श्रीहरिः

मैं तुमसे एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ

मेरे प्यारे आत्मा,

मैं तुमसे एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ ! क्या अतीतकी घटनायें तुम्हारे स्मृति-पट पर छा जाती हैं और तुम उन्हें स्मरण करके शोकमग्न हो जाया करते हो ? निश्चय समझो, तुम्हारे शरीरको नहीं, मनको भूत लग गया है । तुम जब रोते हो, भूतावेशमें ही रोते हो । अच्छा, और । क्या तुम अपने भविष्यकी कल्पना करके भयसे काँप उठते हो ? मित्र, अवश्य ही तुम उस समय स्वप्न देखते होते हो और तुम्हारे पाँव आवश्यकतासे अधिक आगे-पीछे सरक गये होते हैं । प्यारे, तुम अपनी प्रिय वस्तुओं और व्यक्तियोंको, जो वर्तमानमें तुम्हारे साथ हैं, भविष्यमें भी अपने साथ ही रखनेके लिये व्याकुल हो ? विश्वास करो, इसीका नाम मोह और मूढ़ता है । यह शोक, भय और मोहसे ग्रस्त एवं सन्त्रस्त जीवन तथा मन ही तुम्हें अस्त-व्यस्त बना रहा है ।

तुम्हारे शरीरमें जब कोई रोग होता है तब तुम उसके लिये चिन्तित होते हो । चिकित्सककी शरण ग्रहण करते हो, चिकित्सा करते हो और स्वास्थ्य-लाभ करते हो। शरीरके रोग भोग एवं संयोग वियोगको तुम इतना महत्त्वपूर्ण समझते हो। तुम्हारी समझमें उसका इतना मूल्याङ्कन है; परन्तु मनके सुख शान्तिकी इतनी उपेक्षा है, इसका कारण क्या है ? स्थूल जीवनके लिये इतना श्रम, इतनी चिन्ता; परन्तु सूक्ष्म जीवनके लिये कुछ भी नहीं—यह कैसी समझ, यह कैसी प्रगति ? मानसिक जीवन क्रोध-विरोध, काम-दाम और लोभ-क्षोभसे परिपूर्ण रहकर चूर्ण-विचूर्ण होता रहे और तुम बोध प्रबोधसे दूर रहकर शोध-निरोधका तिरस्कार करके सुखनिधान समाधान प्राप्त कर सको, ऐसा सम्भव नहीं है ।

इसलिये आओ भगवद्भक्तिके पथपर ! यह ईश्वरानुरक्ति अनन्त शक्तिका स्रोत है। यह वह रसायन है जो जीवनकी तहमें निगूढ़ अविनाशी ज्ञानात्मक रसके सम्पूर्ण प्रतिबन्धोंको गला देता है और आवरणोंको फाड़ देता है। तुम्हारे हृदयमें एक ऐसा रहस्यात्मक सौन्दर्य है जिसकी कान्ति कभी मलिन नहीं पड़ती है, जिसकी छवि-छटा सर्वदा छलकती रहती है। क्या तुम उसकी झाँकी देखना चाहते हो? तुम्हारे हृदयमें एक ऐसा आनन्द है, जिसका कभी ह्रास या विनाश नहीं होता, जो नित्य-निरन्तर विकास और उल्लासका रास करता रहता है। वह राशि राशि रस है। उसका स्वाद कभी फीका नहीं पड़ता। क्या तुम उसका आस्वादन करना चाहते हो? तुम्हारे हृदयमें एक दिव्य ज्योतिर्मय प्रकाश है। वह आकाशसे भी विशाल है। उसमें कालकी दाल नहीं गलती। उसमें मृत्यु, अज्ञान और दुःखके अन्धकारके लिये कोई अवकाश नहीं है। वह ऐसा जीवन है, ऐसा रस है कि उसको प्राप्त कर लेने पर व्यक्तियोंकी पराधीनता, भोगोंकी अपेक्षा, क्लान्तिकारक श्रान्ति और भ्रान्तिजन्य अशान्तिका अत्यन्ताभाव हो जाता है। क्या तुम उसे अनुभव करना चाहते हो? वह किसी दूसरेका नहीं, तुम्हारा ही है। उसके दायभागी (हक़दार) तुम्हीं हो। वह तुम्हारा ही स्वरूप है। एक बार अपनी दृष्टिको अन्तर्देशके सूक्ष्मतम प्रदेशमें प्रवेश करने दो। देखोगे, तुम्हारा परम प्रेमास्पद आत्मा अन्तर्यामी ईश्वर पहलेसे ही वहाँ विद्यमान और वर्तमान है। तुम्हारा सम्पूर्ण जीवन जो कुछ था, है और होगा उसकी शरणमें है; परन्तु तुम अपनेको अशरण मानते हो। वहाँ तुम देख सकोगे कि तुम उस रसिकशिरोमणि हृदयविहारीके क्रीडासंकल्पके अनुसार नृत्य कर रहे हो; परन्तु अपनेको स्वतन्त्र मानते हो। वहाँ तुम देखोगे कि तुम्हारे प्यारे भगवान् दोनों भुजाएँ फैलाये खुले वक्षःस्थलसे तुम्हारा गाढ आलिंगन करनेके लिये मन्द-मन्द मुस्कराते हुए अपने

प्रेमपूर्ण नेत्रोंसे प्रतिपल प्रणयामन्त्रण दे रहे हैं और तुम उनकी ओर पीठ किये विमुख विषयोंके राग-भोगमें फँस रहे हो।

इस विमुखताकी आधि-व्याधिसे छूटनेके लिये तुम्हारे हृदयमें भक्ति भावका उदय होना आवश्यक है। बिना विवेक वैराग्यके, बिना सद्गुरु शरणागतिके, बिना प्रेमपूर्ण विधान अनुसन्धानके यह भक्तिभाव अनुभवका विषय नहीं हो सकता। इसलिये तुमसे यह प्रेमपूर्ण अनुरोध है कि एक बार इस भक्तिरहस्यकी ओर सावधान ध्यान दो। फिर पता चलेगा कि भक्तिके अन्तरङ्गमें कैसे कैसे अनुरागके रंगसे रँगे हुए ईश्वरानुभूतिके पावन हृदय हैं। इससे हृदय शुद्ध होता है और परमात्माके दर्शनकी योग्यता आती है। तुम देखोगे कि भक्ति केवल रस-लालसा ही नहीं, रसानुभूति भी है। साधन और साध्यकी एकताका अनुभव स्वयमें एक परा सिद्धि है।

समय-समयपर भिन्न-भिन्न पत्र-पत्रिकाओंमें जो मेरे भक्ति-सम्बन्धी लेख प्रकाशित हुए हैं, उनमें से कुछ तुम्हारे सम्मुख प्रस्तुत हैं। आशा है, निबन्धोंका दूसरा संग्रह भी शीघ्र ही उपस्थित किया जा सकेगा। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि इस ग्रन्थसे जो भी आय होगी वह अन्य ग्रन्थोंके प्रकाशनमें ही व्यय होगी।

निर्जला एकादशी,
संवत् – २०१८.

अखण्डानन्द सरस्वती

अनुक्रमणिका

साधन की अनिवार्य आवश्यकता

बुद्धिमानों ! "उठो, जागो और भगवत्प्राप्ति की इच्छा करो"।

(श्रुति),

विचारशील मनुष्यके सामने सबसे पहले यह प्रश्न आता है कि हमें क्या चाहिये ? और जो चाहिये उसके लिये हमें क्या करना चाहिये पहले उद्देश्यका निश्चय, पश्चात् उसकी साधनाका निश्चय होता है। मनुष्य कुछ-न-कुछ चाहता है। कोई मान, प्रतिष्ठा और कीर्ति चाहता है, कोई सुन्दर शरीर चाहता है और कोई चाहता है अप्रतिहत शासन। इस चाहके और भी अनेकों नाम एव रूप हो सकते हैं। परन्तु ये भी जीवनके उद्देश्य नहीं, क्योंकि इनके द्वारा भी सुख ही चाहा जाता है। यदि ये दुःखके कारण बन जाँय तो इनके भी परित्यागकी इच्छा होती है और परित्याग कर दिया जाता है। इसलिए यह बात स्वतः सिद्ध हो जाती है कि मनुष्य-जीवनका लक्ष्य परम सुखकी प्राप्ति है। ऐसी प्राप्ति जिसमें किसी प्रकार की सीमा, अन्तराय अथवा विच्छेद न हो, चाहे वह संग्रहसे हो चाहे त्यागसे। यही कारण है कि मनुष्य जिसको सुख समझता है, उसको प्राप्त करनेके लिए दौड़ पड़ता है। सम्पूर्ण शक्तिसे उसके लिये प्रयत्न करता है। इस प्रयत्न का नाम ही साधना है।

साधारण मानव-समाजकी ओर दृष्टि डाली जाय तो यह प्रत्यक्ष ही दीख पड़ता है कि सभी किसी न-किसी साधनमें लगे हुए हैं। ऐसा होनेपर भी वे दुःखी हैं, निराश हैं और साधना करके

जिस आत्म तुष्टिका अनुभव करना चाहिये वे उससे वञ्चित हैं। इसका कारण क्या है? शान्त और गम्भीर चित्तसे विचार करने पर जान पड़ता है कि जीवनका उद्देश्य निश्चय करनेमें ही उन्होंने भूल की है। धधकती हुई आगको शीतल मणि खण्ड समझकर उसे गोद में उठा लेना जैसे सुखका कारण नहीं हो सकता तथा विषको अमृत समझकर पीना जैसे अमरत्वका कारण नहीं है, ठीक वैसे ही विनाशी वस्तुओंको सुख समझकर अपनानेसे सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जिन स्थूल और जड़ वस्तुओंमें सुखकी कल्पना करके साधारण मनुष्य जी तोड़ परिश्रम कर रहे हैं, उनकी प्राप्ति होनेपर भी सुख नहीं मिलता; क्योंकि वस्तुत. उनमें सुख है ही नहीं। इसीसे वे दुःखी हैं और तब तक उनका दुःख नहीं मिट सकता, जब तक सुखके वास्तविक स्थान का पता लगाकर वे उसको प्राप्त नहीं कर लेते। वास्तविक सुख क्या है? इसका एकमात्र उत्तर है "परमात्मा"। क्योंकि ससारमें जब कभी इच्छाओंके शान्त हो जानेपर यत्किञ्चित सुखकी अनुभूति होती है तथा कई बार कई कारणोंसे होती है तब इस निश्चयका कारण मिल जाता है कि इन समस्त छिट-पुट सुखोंका अवश्य ही कोई न कोई भण्डार है। उसीका नाम तो परमात्मा है। एक ऐसी सत्ता है जो समस्त परिवर्तनोंमें सदा एकरस है। एक ऐसा ज्ञान है जो सम्पूर्ण ज्ञानोंका उद्गम है, जिसमें अज्ञानका लेश भी नहीं है। एक ऐसा आनन्द है, जिसका निर्वचन मन और वाणीसे मौन होकर ही किया जाता है और जिसके आस्वादनमें आस्वाद्य और आस्वादकका भेद नहीं रहता। वह मधुरातिमधुर, नित्यनूतन, परम मनोहर परमात्मा ही तो है। उसको देखे बिना आँखें अतृप्त ही रहेंगी। उसके बिना हृदयकी सेज सूनी ही रहेगी। उसका आलिङ्गन प्राप्त किये बिना बाँहें फैली ही रहेंगी। तात्पर्य यह कि उसको प्राप्त करनेमें ही जीवनके जीवनकी पूर्णता है और जिस जीवनका यह लक्ष्य है वही सच्चा जीवन है। इस सच्चे जीवन का नाम ही साधन है। जिन्हें यह साधन प्राप्त है, साध्य भी उन्हें प्राप्त

ही है, क्योंकि साधन ही साध्य है और वही सिद्ध भी है। यही वास्तविक सुख है।

जीव पुरातन संस्कारोंमें इतना जकड़ गया है कि वह संज्ञाहीन, मूर्छित अथवा सुषुप्त हो गया है। वह भगवदीय प्रेरणा और शक्तिका अनुभव करनेमें असमर्थ है। क्योंकि इस समय जो अन्तःकरण जागरित रहकर कार्यकारी हो रहा है, वह वासनाओंके पुञ्जके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। उसीसे प्रेरित होकर, साधारण मनुष्य उन्मत्तकी भाँति लक्ष्यहीन प्रयत्न कर रहे हैं, जिसके कारण बन्धन और भी दृढ होता जा रहा है। यही कारण है कि अधिकांश अपनेको स्थूल शरीर मानकर उसीसे सम्बन्ध रखनेवाली सम्भावनाओंके प्रवाहमें बह रहे हैं। इस जड़ताको, अन्धगतिको और बन्धनको नष्ट करना होगा। यह सत्य है कि यह बन्धन बहुत ही निष्ठुर है, तथापि इसको काट डालनेमें कोई सन्देह नहीं है। भगवान्‌की अनन्त शक्ति और कृपाका आश्रय लेकर क्या नहीं किया जा सकता? अन्तमें भागवत् सत्ताकी विजय निश्चित है।

वासनाओंसे सञ्चालित होते रहनेके कारण चित्त में इतनी पराधीनता आगयी है कि इनसे मुक्त होनेका प्रयत्न प्रारम्भ करनेमें और उसको चालू रखनेमें कई बार अपनी ही वृत्तियां बाधक हो जाती हैं, और यह असम्भव मालूम होने लगता है कि मेरी इस साधनासे भी कुछ सिद्धि-लाभ हो सकता है। अवश्य ही यह ठीक है कि सारा चराचर जगत् कर्मसूत्रसे बँधा हुआ है और यह वर्तमान जीवन और इसकी प्रवृत्तियाँ प्रारब्धके द्वारा ही परिचालित होती हैं, परन्तु यही सोचकर पुरुषार्थ अथवा साधनसे विमुख हो जाना तथा अपनी आध्यात्मिक उन्नतिको भी प्रारब्धपर छोड़ बैठना बहुत बड़ी कमजोरी है, बल्कि यों कहें कि यह अपने ही हाथों अपने-आपकी हत्या है। भला जिस साधनसे अपने आपकी उपलब्धि होती है, उसीको प्रारब्धके हाथों सौंप देना आत्मघात नहीं तो और क्या है?

विचार करनेकी बात है कि जिस प्रारब्धके भरोसे हम अपने जीवनका उज्ज्वल भविष्य अन्धकारमें डाल देते हैं, उसका मूल क्या है? पूर्वजन्मोंके पुरुषार्थको ही तो प्रारब्ध कहते हैं! हमारे पूर्वजन्मके कर्म अच्छे थे या बुरे, साधक थे या बाधक, इसका निर्णय कैसे किया जा सकता है? मान लें कि वे साधनके विरोधी थे तो क्या हमें इस जन्ममें भी उनसे लड़-लड़कर आगेके लिये साधनके अनुकूल प्रारब्ध नहीं बनाना चाहिये? क्या उन्हीं कर्मोंके चक्रमें पिसते रहकर जन्म-जन्म उन्हीं की गुलामी करनी चाहिये? जिसमें जरा भी जीवन है, वह कभी ऐसी पराधीनता स्वीकार नहीं कर सकता। यदि यह मानें कि मेरे पूर्वजन्मोंके कर्म जिनसे प्रारब्ध का निर्माण हुआ है, साधनके अनुकूल ही थे तो क्या उनकी सहायताके लिये वैसे ही और भी कर्म करके उनकी प्रगतिको बढ़ाना नहीं चाहिये? तात्पर्य यह कि प्रारब्ध चाहे अनुकूल हो अथवा प्रतिकूल, दोनों ही हालतोंमें हमें अपने जीवनके उद्देश्य को पूर्ण करनेके लिये अथक प्रयत्न करनेकी आवश्यकता है।

कभी-कभी ऐसा देखनेमें आता है कि जो वर्षोंसे साधनामें लगे हैं, उन्हें सिद्धि नहीं प्राप्त होती और जिन्होंने बहुत ही थोड़ा परिश्रम किया है, उन्हें थोड़े ही दिनोंमें बहुत बड़ी सिद्धि प्राप्त हो जाती है। इसका कारण क्या है? पूर्व-जन्मके संस्कार ही इसमें प्रधान कारण हैं। जिनके संस्कार साधनाके अनुकूल किन्तु प्रसुप्त थे और अब साधनाके संयोगसे जाग्रत हो गये हैं, उन्हे अविलम्ब सिद्धि मिल जाती है। जिनके संस्कार नहीं थे या कम थे उनकी साधना धीरे-धीरे पूर्वसञ्चित कर्मोंके भण्डारसे सामग्री संग्रह करती है और समय आनेपर तैयारी पूरी होनेपर साधनाकी अग्नि प्रज्वलित हो उठती है, जिसमें पूर्वसंस्कार भस्म हो जाते हैं और वह नित्यसिद्ध वस्तु जो विभिन्न संस्कारोंसे अलिप्त, अस्पृष्ट और अनाकलितहै, प्रकट

हो जाती है तथा जीव अल्पसे महान हो जाता है। संस्कारोंसे विजड़ित होनेके कारण ही जीवकी दृष्टि अशुद्ध हो गयी है। वह जो कुछ देखता है, संस्काराक्रान्त दृष्टिसे ही देखता है। इसीसे सत्य भी उसके चश्मेके रंगमें रंगा हुआ ही दीखता है। परमात्माकी बात तो अलग रही, वह अपने आपको ही दूसरे रंगमें रँगा हुआ देखता है। संस्कारोंके इस चश्मेको दृष्टिके एक-एक दोषको ढूँढ-ढूँढकर निकाल फेंकना होगा। सत्य कर्मसंस्कारों की अभिव्यक्ति नहीं है। इनके धो-बहाने पर जो अवशेष रह जाता है, जो धोनेवालेका मूल स्वरूप है, जो धोनेवालेके धुल जानेपर भी रहता है, वही सत्य है और उसको ढूँढ निकालना ही साधना है। यह स्वयं ही करना होगा। जो आलस्य और प्रमादके भावोंसे अभिभूत हो रहे हैं, उनका अच्छा प्रारब्ध भी बाँझ हो जायगा, क्योंकि साधनाके साथ संघर्ष हुए बिना वह फलप्रसू नहीं हुआ करता। प्रारब्धरूपी बीजके अङ्कुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलित होनेके लिये साधना एक सुसमृद्ध उर्वर क्षेत्र है और इसको तैयार करना साधकके अधीन है।

जीवका धर्म है साधना, और भगवानका धर्म है कृपा। जीव जब अपने धर्मका पालन करता है, तभी वह भगवद्धर्मका अनुभव कर सकता है। जो स्वधर्मका पालन नहीं करता, वह दूसरेसे धर्मपालन की आशा रक्खे, यह उपहासास्पद बात है। इसमें सन्देह नहीं कि भगवानकी कृपा चर-अचर, व्यक्त-अव्यक्त और जीव अजीव सबपर एक रस एवं अहैतुक है। उसके लिये देश, काल अथवा वस्तुका भेद नहीं है। वह अनादि कालसे अनन्त कालतक एकरस बरसती रहती है। बरसना ही उसका स्वभाव है और वह इस प्रकार बरसती रहती है कि जो कुछ है, वह सब उस कृपाका एक कणमात्र है; परन्तु इस सत्यका साक्षात्कार साधनाके बिना नहीं होता। हम कुछ न करें, कुछ न सोचें, परन्तु हमारी नस-नसमें कृपाकी विद्युत-शक्ति

दौड़ रही हो, हमारे रग-रगमें वही सुधा मधुर धारा प्रवाहित हो रही हो, हमारे प्राणोंमें उसीका शक्ति सञ्चार हो तथा मन, बुद्धि, अहङ्कार-जो कुछ मैं हूं-उसीमें डूब उतरा रहे हों, हमारी यह स्थिति बाह्य दृष्टिसे साधना न होनेपर भी परम साधना है। और मैं तो कहता हूँ, यही सबसे बड़ी सिद्धि है। यदि इससे बड़ी कोई सिद्धि हो तो वह हमें नहीं चाहिये। परन्तु इस अनुभूतिके बिना कृपा का नाम लेकर हाथपर हाथ धरके बैठ रहना आत्मवञ्चना है। स्त्रीके लिये, पुत्रके लिये, शरीरके लिये, मनोरञ्जनके लिये प्रयत्न हो अथवा आलस्यको ही सुख मानकर पड़े रहें, परन्तु साधनाकी चर्चा चलनेपर अपनी अकर्मण्यता और आलस्यप्रियताके समर्थनमें भगवत्कृपाका नाम ले लें या उसके नामपर सन्तोष कर लें, साधना-जगतमें यह एक अमार्जनीय अपराध है।

सूर्यका स्वभाव है कि वह अपनी आलोक-रश्मियोंके विस्तारसे निखिल जगतमें नवीन चेतना और स्फूर्तिका संचार करता रहे। यदि नेत्र दोषके कारण कोई उस प्रकाशको नहीं ग्रहण कर सके तो यह सूर्यका वैषम्य नहीं, नेत्रके रोगीका ही दोष है। इसी प्रकार भगवत्कृपा होनेपर भी, रहनेपर भी, उसको अनुभव कर सकनेकी योग्यताका अभाव दूर करना होगा। हमें साधनाके द्वारा अपने अंतःकरणमें ऐसी पात्रता और क्षमताको उद्दीप्त करना पड़ेगा, जिसके द्वारा हम उस एकरस कृपाका अनुभव करनेमें समर्थ हो सकें। सूर्यका प्रकाश तो कोयले और आतशी शीशेपर समानरूपसे ही पड़ता है। परन्तु कोयलेपर उसका बहुत ही कम प्रभाव पड़ता है और आतशी शीशेके संयोगसे वह प्रज्वलित हो उठता है। यही बात भगवत्कृपाके सम्बन्धमें भी है। उसकी अनुभूतिके लिये साधनाके सघर्षसे चमकते हुए निर्मल और उज्वल अंतःकरणकी आवश्यकता है।

कौन नहीं जानता कि अग्नि सर्वव्यापक है । आकाशमें फैले हुए नन्हें-नन्हें जल-कण और प्रलयकी आगको भी बुझा देनेकी शक्ति रखनेवाली समुद्रकी उत्ताल तरंग भी अव्यक्त अग्निसे शून्य नहीं हैं, यह सत्य है । परन्तु इस व्यापक अग्नीके द्वारा न तो घरका अंधेरा ही दूर किया जा सकता है और न भोजन ही तैयार किया जा सकता है। यदि हम ऐसा करना चाहते हैं तो हमें साधन-सामग्रीसे अव्यक्त अग्निको व्यक्त करना पड़ता है और व्यापक अग्निको एक घेरेमें प्रज्वलित करना पड़ता है । यदि हम भगवत्कृपाके द्वारा अपने हृदयमें प्रकाश और आनन्दका अनुभव करना चाहते हैं तो हमें साधन सामग्रीसे उसको ऐसा बनाना ही पड़ेगा कि वह उस अव्यक्त और व्यापक कृपाको मूर्तरूपमें अनुभव कर सके । इसीसे यह देखा गया है कि भगवत्कृपापर जिनका जितना अधिक विश्वास है, वे उतना ही अधिक साधनामें संलग्न होते हैं । वे एक क्षणके लिये भी भगवत्कृपाकी प्रतीक्षा और उसकी अनुभूति नहीं छोड़ते, छोड नहीं सकते, क्योंकि उनका जीवन *कृपामय अतएव साधनमय हो गया है ।*

हृदयके अन्तर्देशमें परमात्मा और उसके बहिर्देशमें स्थूल प्रपञ्च है । दोनोंके मध्यमें स्थित हृदय जब स्थूल प्रपञ्चका चिन्तन करता है तब क्रमश जड़भावापन्न हो जाता है और जब अन्त स्थित चित्स्वरूप परमात्माका चिन्तन करता है, तब चिद्भावापन्न हो जाता है । हृदयको जड़ताके दलदलसे निकालकर चिद्भूमिपर प्रतिष्ठित करनेका प्रयत्न ही साधना है । इस प्रयत्नमें अनेकों प्रकारके स्तर और भूमिकाए सहज-रूपसे ही आती हैं । कई साधक पहले जन्मों में उनमेंसे बहुतसी अथवा कुछ भूमिकाएँ पार कर चुके होते हैं, इसलिये वर्तमान जन्ममें उन्हें उसके आगेकी ही साधना करनी पड़ती है । अधिकार-भेदका भी यही कारण है । इसीसे भिन्न भिन्न साधकोंके लिये अलग-अलग साधनाओंका निर्देश है । एक उदाहरणसे यह बात स्पष्ट की जाती है

मान लीजिये, दो व्यक्ति भयंकर धूपमें घूम रहे हैं। एकको लू लग जाती है और एकको थोड़ीसी गरमीका ही अनुभव होता है। पहलेको ज्वर हो आता है, दूसरा स्वस्थ रहता है। एक ही धूपका इन दोनोंपर भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता है। इसका कारण क्या है ? यही कारण है कि इनके शरीरमें रहनेवाली धातुएँ एकसी नहीं हैं। एकमें धातु साम्य है तो दूसरेमें वैषम्य। इसीसे एक ही धूपके दो फल होते हैं। इसी प्रकार किसीका अभिमान स्थूलशरीरमें है तो किसीका सूक्ष्मशरीरमें। इसके भी अनेकों स्तर होते हैं। जो जिस स्तरकी साधना को पार कर चुका है वह उसके लिये सहज होता है और जो अभी दूर है, उसमें प्रवृत्ति ही नहीं होती। जिस स्तरमें उसका अभिमान है, वहींसे साधना प्रारम्भ होती है। मनको निषिद्ध कर्मोंसे हटाकर विहित कर्मोंके स्तरमें लाना पड़ता है। विहित कर्मोंमें भी जबतक इहलौकिक काम्यकर्म होते हैं, तबतक स्थूलशरीरका ही अभिमान काम करता है। पारलौकिक कामना होनेपर सूक्ष्मशरीरका जागरण प्रारम्भ होता है, और निष्कामनाके साथही अंत.करणकी शुद्धि होने लगती है। यह निष्कामना भी शारीरिक कर्मके साथ, मानसिक कर्मके साथ और दोनोंसे रहित तीन प्रकारकी होती हैं। पहले का नाम कर्मयोग, दूसरे का नाम भक्तियोग और तीसरे का नाम ज्ञानयोग है। जब अंतःकरण, शारीरिक और मानसिक कर्मोंसे रहित होकर निःसङ्कल्प जागरित रहने लगता है, तब उसे विशुद्ध सत्य कहते हैं। समाधियोंके समस्त भेद इसीके अन्तर्गत हैं। इसीमें वास्तविक ज्ञानका उदय होता है जो कि स्वय परमात्मा है। इसके पहले अपनी वासनाएँ ही जो कि अनादि कालसे अगणित रूपों में दबी पड़ी रहती हैं, नाना प्रकारके रूप धारण करके आती हैं। समस्त सस्कारोंके धुल जानेपर ही परम सत्यका साक्षात्कार सम्भव है। उनको धो डालना ही साधनाओंका काम है। इनमेंसे और इनके अतिरिक्त और भी विभिन्न स्तरों में से जो जिस स्तरमें पहुँचा हुआ

साधक होगा, उसको उससे भी ऊपर उठनेके लिये साधनाकी आवश्यकता होगी, चाहे उस साधनाका रूप जो भी हो ।

ज्ञान साधनाका विरोधी नहीं है । वह तो उसमें रहनेवाले अज्ञानमात्रका ही विरोधी है । अज्ञानका नाश करके साधनाओंके स्वरूपकी रक्षा करनेमें ज्ञानका जो महत्व है, वह कोई अनुभवी महापुरुष ही जान सकता है। साधनामें से नीच ऊँच भावको निकालकर विभिन्न रुचि, प्रवृत्ति और अधिकारवालोंके लिये सबको सम श्रेणीमें कर देना ज्ञानदृष्टिका ही काम है । इसलिये ज्ञानसम्पन्न पुरुष कभी किसी भी साधनाका विरोध नहीं करते और जैसे दूसरे साधकोंके द्वारा प्रयत्नपूर्वक साधनाएँ होती हैं, वैसे ही ज्ञानीके शरीरसे भी सहज रूपमें हुआ करती हैं । प्रमाद और आलस्य तो अज्ञानके कार्य हैं जो आदर्श महात्मामें रह ही नहीं सकते । इसीसे ज्ञानके पूर्वकालमें उन्हें जिन साधनोंका अभ्यास हो जाता है, उन्हींका शरीरके त्यागपर्यन्त सदा अनुष्ठान होता रहता है। जहाँ आलस्य, प्रमाद अथवा कायक्लेशके कारण जान-बूझकर साधनोंका परित्याग किया जाता है, वहाँ तो विशुद्ध ज्ञान ही नहीं है और ऐसी स्थितिमें दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो ही नहीं सकती ।

साधनामें प्रवृत्ति ही दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्तिको लक्ष्य करके होती है । जब-तक लक्ष्यकी सिद्धि न हो, तबतक साधनासे निवृत्त हो जाना कायरता है। सुख और दुःख अन्तःकरणमें होते हैं । इसलिये अन्तःकरणको ऐसी स्थितिमें ले जाना साधनाका काम है, जिसमें उनका अनुभव ही नहीं होता। ज्ञानाभासका आश्रय लेकर अन्तःकरणको सुख-दुःख में पड़ा रहने देना अज्ञान है । ऐसा निसङ्कल्प अन्तःकरण जिसमें सुख और दुःख दोनोंके प्रति समत्व है अथवा उनकी प्राप्ति और विधानके लिये कोई स्पन्दन नहीं है, जीवनमुक्तका अन्तःकरण है

और यदि ज्ञान नहीं भी हुआ है तो साधनकी चरम सीमा अवश्य है। इसीसे ज्ञान प्राप्ति और ज्ञानरक्षा अर्थात् जीवन्मुक्ति का सुख अनुभव करनेके लिये ज्ञान-सिद्धान्तमें भी साधनाकी अनिवार्य आवश्यकता स्वीकार की गयी है।

क्षीण हो रहा है क्षण-क्षण यह मनुष्य जीवन। काल निगल जाना चाहता है अभी-अभी। सारा संसार विनाशकी ओर द्रुतगति से दौड़ रहा है। एक ओर एक दृश्य है तो दूसरी ओर परमानन्द-स्वरूप प्रभु हमें अपनी गोदमें लेनेके लिये न जाने कबसे प्रतीक्षा कर रहे हैं और अपनी ओर आकर्षित कर रहे हैं। अज्ञान-निद्रामें सोया हुआ यह जीव यदि जग जाय तो यह अपनेको परमात्माकी गोदमें, उनके स्वरूपमें ही पाकर निहाल हो जाय और स्वप्नकी सारी विभीषिकाएं निर्मूल होकर लीलाके रूपमें दीखने लगे। यह जागरण ही साधन है और यह करना ही होगा।

'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत'।

'उठो, जागो और बड़ों के पास जाकर सत्यको जानो'।

★ ★
★

सत्सङ्ग का प्रसाद

(१)

एक महात्माने अपने भक्तसे पूछा–'क्यों लाला, तुम्हारा किसीसे दृढ राग है?'

भक्त—'ऐसा नहीं मालूम होता महाराज!'

महात्मा—'किसीसे द्वेष है?'

भक्त—'ना!'

महात्मा—'तब बेटा! किसी भी साधनामें तुम्हारी दृढ प्रवृत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि साधनामें तो प्राणपणसे वे ही लोग लगते हैं, जो किसीको पानेके लिये अत्यन्त उत्सुक हैं, अथवा जो किसीसे इस प्रकार ऊब गये हैं कि उसको छोड़े बिना रह ही नहीं सकते। संक्षेपमें, अपने इष्टसे अनुराग और अनिष्ट-परिहारकी अभिलाषा ही साधनामें लगाती है। जब इतने ऊँचे उठ जाओगे कि तुम्हारे लिए प्रिय-अप्रिय कुछ रहेगा ही नहीं, तब जो कुछ होगा, साधन ही होगा। तब तो सहज स्थिति ही साधना होगी। परन्तु जो उस स्थिति में नहीं हैं, कहीं बीच मार्गमें ही थोड़ा सा रस प्राप्त करके सन्तुष्ट हो गये हैं, अथवा प्रमादवश इष्ट-अनिष्टका विचार ही नहीं करते, उन्हें एक-न-एक दिन पछताना पड़ेगा। साधकको तो ऐसा होना चाहिये, कि जहाँ वह है और जहाँ उसे पहुँच जाना चाहिये, दोनों

की दूरीको एक क्षण भी सहन न करे। कितना वीर साधक है वह जो अवाच्छनीय परिस्थिति का परित्याग करने के लिये इतना व्याकुल हो जाता है कि 'मैं कहाँ पहुँच जाऊँगा' इसका विचार किये बिना ही पागलकी भाँति उछल पड़ता है।'

(२)

शिष्यने गुरुसे प्रश्न किया—'भगवन्-भगवत्प्राप्तिके लिये किस प्रकारकी व्याकुलता होनी चाहिये?' गुरु मौन रहे। शिष्य उनका रुख देख कर चुप ही रहा। स्नान के समय गुरु और शिष्य दोनों ने एक साथ ही नदीमें प्रवेश किया। एकाएक गुरुने शिष्यका सिर, जब वह डुबकी लगा रहा था, पानीमें जोरसे दबा दिया। भला वह बिना श्वासके पानीमें कबतक रह सकता? उसके धीरजका बाँध टूट गया और वह छटपटाकर बाहर निकल आया। उसके स्वस्थ होने पर गुरुने पूछा—'पानीसे निकलनेके लिये कितनी आतुरता थी तुम्हारे मन में'?

शिष्यने कहा—'बस एक क्षण उसमें और रह जाता तो मर ही गया था'।

गुरु—'मेरे प्यारे भाई! अभी तो तुम ससारमें जी रहे हो और सुख मान रहे हो। जिस क्षण इस वर्तमान परिस्थितिसे तुम उसी प्रकार आकुल उठोगे, तब तुम सारे बन्धनको छिन्नभिन्न करके एक क्षणमें ही अपने प्रियतम प्रभुको प्राप्त कर सकोगे'।

शिष्य—'तब क्या वर्तमान परिस्थितिसे ऊबना ही साधनका प्रारम्भ है? इस प्रकार तो असन्तोषकी आग भड़केगी, सतोषामृतका पान कैसे कर सकेंगे?'

गुरु— 'भैया ! विवशताका सन्तोष तो कायरता है, क्लीवता है। यदि तुम्हारे मनमें कोई इच्छा ही न हो, तब तो दूसरी बात है। परन्तु जब तुम कुछ प्राप्त करना चाहते हो और यह न्यायसङ्गत है, तब उसे प्राप्त किये विना बैठे रहना किसी प्रकार उचित नहीं है। यदि असन्तोषकी आग भड़कती है और प्रलय होता दीखता है तो हो जाने दो क्योंकि यह प्रलय ही नवीन सृष्टिका जनक है। जिसके चित्तमें अशान्तिका सचार नहीं हुआ, वह कैसे जान सकता है कि शान्ति क्या वस्तु है? सामने दीखने वाली सुन्दरतापर ही जो मुग्ध हो रहा है, उसके सामने सौन्दर्यका अन्तराल क्यों व्यक्त होने लगा? तुम सारे आवरणोंको फाड़कर एक बार पूरे आवेगसे उनसे मिल लो फिर तो तुम निरन्तर ही मिले रहोगे। परन्तु एक बार पूर्ण मिलन हुए बिना जो सन्तोष है, वह तो सन्तोषका शव है, ख्यालमात्र है। उसके भीतर असन्तोष छिपा हुआ है। उसके बीजको प्रकट करके उखाड़ डालना और चिरकालतकके लिये असीम सुख-शान्तिको प्रतिष्ठित कर लेना ही तो साधना है।'

(३)

सत्सङ्गी ने पूछा—'महात्मन्! यदि हमारे अन्दर भगवान् के लिए व्याकुलता नहीं हो, तो क्या वे हमें नहीं मिलेंगे'?

महात्मा—'क्यों नहीं मिलेंगे? अवश्य मिलेंगे। मिलना ही उनका जीवन है, मिलना ही उनका जीवन-व्रत है। बिना मिले वे रह ही नहीं सकते। ऐसा क्यों, वे तो प्रतिदिन सैकड़ों, हजारों रूपोंमें हमसे मिलते भी हैं। हम उन्हें पहचानते नहीं, इसीसे उनके मिलनके आनन्दसे वञ्चित रह जाते हैं। परन्तु हमारे न पहचाननेसे उनकी छिपने की लीला तो पूरी होती ही है, वे हमारे इस भोलेपनका आनन्द भी लेते हैं।

सत्सङ्गी—'तब क्या हमें ही पहचानना पड़ेगा ? यदि उनके मिलनेपर भी हम उन्हें नहीं पहचान सकते तो हमारे जीवनमें इससे अधिक महत्त्वपूर्ण और कौनसी घटना घटेगी कि हम उनको पहचानकर उनके आलिङ्गनका सुख प्राप्त कर सकेंगे' ?

महात्मा—'यह तो उनकी एक लीला है। जब तक वे आँख मिचौनी खेल रहे हैं, उनकी इच्छा अपनेको पहचानमें लानेकी नहीं है, तबतक किसका बीटा है कि उन्हें पहचान सके ? परन्तु वे कबतक छिपेंगे ? वे जैसे नचावें, नाचते जाओ; कभी तो रीझेंगे ही। यदि रीझकर उन्होंने अपना परदा—बनावटी वेश दूर कर दिया, तब तो कहना ही क्या है ? और यदि छिपे ही रहे तो भी हम उनके सामने ही तो नाच रहे हैं ! हम चाहे उन्हें न देखें, वे तो हमें देख रहे हैं न ? बस, वे हमें और हमारी प्रत्येक चेष्टाको देख रहे हैं और उनकी प्रसन्नताके लिये मैं नाच रहा हूँ—इतना भाव रखकर, जैसे रखें, रहो। वे अवश्य तुम्हें अपनी पहचान बतायेंगे, मिलेंगे।'

(४)

शिष्यने पूछा—'गुरुदेव ! भरसक क्रिया तो शास्त्र और भगवान्‌के विरुद्ध नहीं करता, परन्तु मनको क्या करूँ, कैसे रोकूँ ? नाना प्रकारके सङ्कल्प उठा करते हैं, जिनमें अधिकांश बुरे होते हैं। क्या करूँ ?'

गुरुदेवने कहा—'तुम सङ्कल्प करनेवाले क्यों बन बैठे हो ? तुमने जो यह मान रक्खा है कि मैं सङ्कल्प करता हूँ, अपने लिये सङ्कल्प करता हूँ—यही तो भ्रम है। भगवान्‌के लिये ही सङ्कल्प हो, भगवान् ही सङ्कल्प करें। उनके भले-बुरे होनेका भी निर्णय वे ही करें। जैसे आकाश, वायु, सूर्य, समुद्र और पृथ्वी उन्होंने धारण कर

रक्खा है और वे ही उनका सञ्चालन भी करते हैं, वैसे ही सबके शरीर और अन्तःकरणोंको भी उन्होंने ही धारण कर रक्खा है और उनकी सत्ता, महत्ता तथा प्रत्येक गतिविधि उन्हींके हाथमें है। जब कोई भ्रमवश, अहङ्कारवश आश्रय करके उन्हें अपना समझने लगता है, तब अच्छे भी बुरे फल आते हैं। प्रत्येक क्रिया और सङ्कल्पके मूलमें वे ही हैं, हम नहीं। जो क्रिया हो, जो सङ्कल्प उठे, उसके मूलकी ओर देखो और बड़ी आतुरतासे उधर ही दौड़ पड़ो, जिधरसे वह आता है। अवश्य ही यह जागरूकता भी उन्हींकी ओरसे प्राप्त होती है, परन्तु इसके लिये सावधानी रखनी ही चाहिये। जबतक हम हैं, तबतक हमारा कर्त्तव्य भी है। कहीं हमारे प्रमादके पापसे वह आयी हुई अनमोल देन हमारे हाथसे निकल न जाय। शरीर और अतःकरण सब उसी एकके हैं, उसीकी ओर देखो। फिर सब ठीक है।'

(५)

एक मुमुक्षुने अपने गुरुदेवसे पूछा—'प्रभो, कौनसी साधना करूँ'?

गुरुदेवने कहा—'तुम बड़े जोरसे दौड़ो। दौड़नेके पहले यह निश्चित कर लो कि मैं भगवान्‌के लिये दौड़ रहा हूँ। यही तुम्हारे लिये साधना है।'

उसने पूछा—'क्या बैठकर करनेकी कोई साधना नहीं है'?

गुरुने कहा—'है क्यों नहीं, बैठो और निश्चय रखो कि तुम भगवान्‌के लिये बैठे हो।'

शिष्य—'भगवन, कुछ जप नहीं करें'?

गुरु—'किसी भी नामकी आवृत्ति करो और सोचो, मैं भगवान्‌के लिये कर रहा हूँ'।

शिष्य—'तब क्या क्रियाका कोई महत्व नहीं है ? मेरा भाव ही साधन है ?'

गुरु—'मेरे प्यारे भाई ! क्रियाका भी महत्व है । परन्तु क्रिया पहले वही वस्तु दे सकती है, जिसमें तुम्हारा भाव होगा । नाम जपका उद्देश्य धन है तो पहले धन, पीछे भगवान् । क्रियासे भाव और भावसे क्रिया, यही क्रम है । दृष्टि लक्ष्यपर रहे, फिर जो तुम करोगे, वही साधना होगी । प्रत्येक व्यक्तिका यही भाव हो कि वह जहाँ है, वहीं उसे भगवान् मिल सकते हैं । ऐसा कौन है, जिसे भगवान् नहीं मिले हुए हैं । लक्ष्य तो ठीक करो, साधना स्वयं ठीक हो जायगी ।'

(६)

एक बार एक सत्सङ्गीने एक महात्मासे प्रश्न किया—'भगवन् ! आप बार-बार नाम-जप करनेको कहते हैं, परन्तु मेरे मनमें भगवत्प्राप्तिकी इच्छा नहीं है और स्वाभाविक रुचि भी नहीं है नाममें। फिर मैं क्यों नाम जप करूँ ?'

'महात्माजीने कहा—'यदि भगवत्प्राप्ति की इच्छा हो, तब तो नाम-जप के सम्बन्धमें प्रश्न ही क्यों हो ? परन्तु इच्छा होनेका भी कोई उपाय होना चाहिये । शुद्ध अतःकरणसे नाम जपना चाहिये । परन्तु अतःकरण शुद्ध हो कैसे ? इसलिये तुम जिस अवस्थामें हो, जैसे हो, अभीसे नाम-जप शुरू कर दो । माना कि तुममें कोई इच्छा नहीं है, परन्तु तुम तो मेरी प्रसन्नताके लिये भी जप कर सकते हो । कोई नाम-जप करता है तो मैं प्रसन्नतासे खिल उठता हूँ । क्या गुरुकी प्रसन्नताके लिये शिष्य इतना भी नहीं कर सकता ? मेरा विश्वास है, अपने लिये न सही, मेरे लिये ही तुम नाम जप करोगे ।'

(७)

पैंतीस-छत्तीस वर्ष पहले एक सज्जन तीर्थयात्रा करते हुए अयोध्या पहुँचे। सब मन्दिरोंमें दर्शन आदि करके वे एक महात्माके पास गये। अवसर पाकर उन्होंने पूछा—'महाराज! भगवानके दर्शन कैसे हों, कहाँ हो?' ऐसा मालूम हुआ, मानो महात्माजी कुछ रुष्ट हो गये। उन्होंने कहा—'कहाँसे आ रहे हो तुम?' यात्रीने कहा—'मन्दिरोंमें दर्शन करके।' महात्माने कहा—'मन्दिरोंमें केवल पत्थरके ही दर्शन करके आ रहे हो? जिनकी सेवाके लिये हजार-हजार व्यक्तिओंके जीवन, धन और मन लग रहे हैं, जिनके लिये लोगोंने संसारका परित्याग कर रखा है, जो बहुतोंके जीवनसर्वस्व-प्राण हैं, उन्हें तुम केवल पत्थर समझते हो? उनकी आँखसे देखो, तब तुम्हें मालूम होगा, वे मूर्तियाँ क्या हैं? भैया, वे साक्षात् भगवान् हैं—केवल भाव-दृष्टिसे नहीं, तत्त्व-दृष्टिसे भी। जब तत्त्व दृष्टिसे सब भगवान् ही हैं, तब ये मूर्तियाँ भगवान् नहीं तो क्या हैं? पहले शास्त्रो, संतों और भावनाओंके द्वारा एक स्थानपर भगवानको प्रकट करना पड़ता है। एक स्थानमें, एक समय में, एक वस्तुमें पहले भगवान्का दर्शन करो, उन्हें प्रकट करो, फिर तो सब स्थान, सब समय और सभी वस्तुएँ भगवत्स्वरूप ही होंगी। जो 'सब ओर सर्वत्र भगवान् हैं'– ऐसा कहते हैं, परन्तु एक स्थानपर उन्हें प्रकट करके दर्शन नहीं कर लेते, वे कहीं भी दर्शन करनेमें सफल नहीं होते। इन मन्दिरस्थ भगवानको पहचानो। इन अनबोले भगवानसे प्रीति करो। अनबोलतेसे प्रेम करनेमें ही तो प्रेमी हृदयकी पहचान है। फिर तो वे बोले बिना रहते नहीं। जब एक जगह बोल देते हैं, तो सर्वत्र बोलते हैं। तुम्हें ऐसा कभी नहीं सोचना चाहिये कि मुझे भगवान्के दर्शन कभी नहीं हुए। भगवानके दर्शन हो रहे हैं। उन्हें जानकर, मानकर, अनुभव करके तुम्हें केवल मुग्ध होना चाहिये। भगवत्मूर्तिको पाषाण, गुरुको

मनुष्य और प्रह्लादको भोग मानना अपराध है। तुम भगवान्‌को भगवानके रूपमें देखो।' महात्माजीके उपदेशसे उन्हें बड़ा सन्तोष हुआ। वे अब सच्चे मूर्तिपूजक हैं। वे जिस मूर्तिकी पूजा करते हैं, वह साक्षात् भगवान्‌के रूपमें ही उनको दीखती है।

(८)

पैंतीस-छत्तीस वर्ष पूर्वकी बात है—एक सज्जन के चित्तमें वैराग्यका उदय हुआ। उनकी अवस्था अभी छोटी थी। वे घर-द्वार छोड़कर निकल पड़े और भागकर अयोध्या पहुँचे। उन्होंने वहाँ जाकर एक प्रसिद्ध विद्वान् महात्मासे प्रार्थना की कि अब मुझे वैराग्य-दीक्षा देकर कृतार्थ कीजिये।

महात्माने पूछा—'तुम्हारा घर कच्चा है या पक्का? घरपर कितने प्राणी हैं? वहाँ क्या भोजन मिलता है?' उन्होंने उत्तर दिया-'महाराज, मेरा घर कच्चा है, तीन-चार प्राणी हैं, साधारण भोजन मिलता है।'

महात्माजीने कहा—मेरा मठ पक्का, है, यहाँ सैकड़ों साधु रहते हैं, उत्तम भोजन मिलता है। यदि कच्चा घर छोड़कर पक्केमें रहना, तीन-चार प्राणी छोड़कर सैकड़ों प्राणियोंमें रहना और साधारण भोजन छोड़कर उत्तम उत्तम भोजन करना वैराग्य हो तो तुम आओ, मैं तुमको वैराग्य दीक्षा देदूँ। परन्तु यदि तुम्हें अपने विचारमें ऐसा दीखता हो कि वहाँ की अपेक्षा यहाँ कुछ अधिक वैराग्य नहीं है तो तुम्हें घरपर रहकर ही भजन करना चाहिये। भजन होना चाहिये-चाहे हम घरमें हों या वनमें, गृहस्थ हो या विरक्त। वैराग्य अन्तरकी वस्तु है, बाहरकी नहीं। उसका अर्थ इतना ही है कि प्रियतम प्रभुके अतिरिक्त और किसीको भी मनमें स्थान न मिले, उनके अतिरिक्त और किसीसे राग न हो। तुम केवल उन्हींसे राग करो, उन्हींका भजन करो, उन्हींमें रम जाओ। बाह्य परिस्थितियोंको तुम जितना ही अनुकूल बनाना

चाहोगे इतना ही उनमें फँस जाओगे। चाहे जैसी भी परिस्थिति हो, तुम जहाँ भी हो, वहीं भगवानका भजन करो।' महात्माजीका उपदेश मानकर वे घर लौट गये। वे बहुत समय तक गृहस्थ रहे और उनका भजन बड़े बड़े विरक्तोंसे भी उत्तम रहा।

(९)

एक महात्माने एक दिन यह कथा सुनाई थी। काफी समय पूर्व ऋषिकेश आज जैसा शहर नहीं था। यहाँ गृहस्थ कभी-कभी जाया करते थे। जङ्गलकी झाडियों में प्राय विरक्त तपस्वी निष्ठावान महात्माओं का ही निवास था। चन्द्रभागाके तटपर एक बड़े ही ध्याननिष्ठ महात्मा रहते थे। वे केवल सिद्धासनसे ही बैठे रहते थे। उनके श्वास जोरसे चलते किसीने नहीं देखे। सर्वदा प्राणोंकी समगति और अधखुली आँखें। उनकी अतर्मुखता आदर्श थी। एक दिन जब वे ध्यान मग्न थे, किसी श्रद्धालु सज्जनने आकर उनके सामने पचीस रुपये रख दिये। आँख खुलनेपर उन्होंने देखा तो सामने रुपये रखे हुए हैं। न उन्हें रुपयोंकी इच्छा थी और न आवश्यकता ही। वे सोच में पड़ गये कि 'इनका क्या किया जाय?' एक सङ्कल्प उठा कि 'किसी ब्राह्मणको दे दिया जाय?' दूसरा उठा कि 'किसी गरीबको दे दें।' तीसरा हुआ, 'साधुओंका भडारा कर दें।' और चौथा हुआ 'गरीबोंको खिला दें।' ध्यान करनेवाले महात्माके मनमें रुपयोंके सम्बन्धमें इतने प्रश्न कभी नहीं उठे थे। वे विक्षिप्तसे हो गये। उन्हें सूझता ही नहीं था कि इन रुपयोंके सम्बन्धमें क्या करें। अबतक रुपयोंको उन्होंने छूआ नहीं था। वे घबराकर एक वयोवृद्ध तत्त्ववेत्ताके पास गये और उनसे अपने विक्षेपकी बात कही। महात्माने कहा– 'स्वामीजी, अभी आपके मनसे रुपयाका महत्त्व गया नहीं है। आप समझते हैं यह उपयोगी वस्तु है। इसके द्वारा ससारका काम

होता है । इसीसे अनिच्छित रुपये सामने आनेपर भी उनके द्वारा कुछ-न-कुछ काम करनेकी इच्छा आ गयी है । आपको तो केवल ध्यान करना चाहिये । व्यवहारके सम्बन्धमें एक भी प्रश्न आपके चित्तमें नहीं उठना चाहिये । जिस चित्तमें केवल 'सत्यं शिवम् सुन्दरम्' का ही ध्यान होना चाहिये, उसमें व्यावहारिक निष्ठुर कर्तव्योंका उदय क्यों हो? आप उनके द्वारा किसीकी भलाई कर सकते हो, परन्तु इससे आपके चित्तमें करनेका संस्कार बनेगा, दूसरोंकी आशा बढ़ेगी– आपसे उपकार प्राप्त करनेकी । इस प्रकार आप ध्यानसे वञ्चित हो जायँगे । व्यवहारके किसी भी बड़े-से-बड़े कामकी अपेक्षा भगवान्‌में एक क्षणकी भी चित्तकी स्थिति अनन्तगुनी उत्तम है, इसलिये अब सङ्कल्पोंकी परम्परा यहीं बन्द कर दीजिये । रुपयोंको न छूनेपर जब यह स्थिति है, तब उनके छूनेपर तो क्या दशा होगी– इसका अनुमान नहीं हो सकता । जो रात-दिन रुपयोंमें ही रहते हैं, उनके चित्तका तो कहना ही क्या है ? वे रात-दिन उनकी व्यवस्थाके सम्बन्धमें सोचते रहते हैं । अब आप उनका स्पर्श मत कीजिये । रुपयोंपर गोबर डालकर बिना छुए ही उन्हें उठा लीजिये और गङ्गाजीमें फेंक दीजिये । उन ध्याननिष्ठ महात्माने वैसा ही किया, तब कहीं जाकर उनका चि[illegible] विरक्तोंके लिये इन बातोंका सम्बन्ध कितना वि[illegible] घटनासे प्रत्यक्ष हो जाता है । इसीसे [illegible] प्रपञ्चोंसे अलग ही रहते हैं ।

(१०)

एक प्रेमी जिज्ञासुने अपने ऊपर [illegible]
पूछा– 'भगवन् ! रहस्यकी बात क्या [illegible]
एकान्तप्रेमी शिष्योंको गुप्तरूपसे बताया [illegible]

महात्माने कहा– 'यदि मैं बता दूँ तो वह रहस्य ही कहाँ रह जायगा ? रहस्यकी बात दूसरा कोई नहीं बता सकता, उसका पता तो अपने आप ही लगाया जाता है। जिज्ञासुने कहा– 'तब तो वह बात मुझे कभी मालूम हो नहीं सकती। मैं तो आपसे ही जानना चाहता हूँ।'

महात्माने कहा– 'दो प्रणाली है, रहस्य बतानेकी। एकमें तो गुरु अत्यन्त प्रिय शिष्यको अपने महत्वकी बातें बताते हैं– मुझे इस प्रकार अनुभव हुआ है, यह वरदान मिला है, मैं यह हूँ इत्यादि। कई पन्थोंमें अपनी उपासना अथवा अपने गुरुजनोंकी उपासना बतलायी जाती है और शिष्यको अपनी साधनामें परायण होनेको कहा जाता है तथा उसकी रक्षा तथा त्राणका आश्वासन दिया जाता है। दूसरी प्रणाली अत्यन्त महत्वपूर्ण है और यह रहस्य केवल सच्चे गुरु ही बता सकते हैं। इसमें गुरुदेव समस्त जगत्की सत्ताके बाध के साथ ही-साथ अपना भी बाध कर देते हैं और शिष्यसे कहते हैं– 'मैं नहीं हूँ, तू ही है। मैं, जिसे शरीरके रूपमें तुम देख रहे हो, जिसमें प्रवचन, युक्ति-कौशल, प्रेम, सदाचरण और शुद्ध व्यवहारको देख-सुनकर तुम श्रद्धावनत हो जाते हो, जिसे कभी-कभी भावातिरेकसे तुम भगवान् कहने लग जाते हो, वह मैं तुम्हारी कल्पनाके अतिरिक्त और कुछ नहीं हूँ। मैं और तुम दोनों उपाधिरहित, निर्विशेष एवं एक हैं। न मैं मैं हूँ और न तू तू ही है। मैं, तू और वह–इन शब्दोंके अर्थ जिन्हें भिन्न भिन्न मालूम पड़ते हैं, उन्हें रहस्यका ज्ञान नहीं है, वे तो स्थूलताओंमें और उनके संस्कारोंमें आबद्ध हैं। समस्त आवरणोंको फाड़ डालने पर केवल एक और केवल एक ही वस्तु ऐसी निकलती है, जो सबका एकमात्र अर्थ है। भिन्नताके अर्थ तो कामचलाऊ व्यावहारिक हैं। वैसे अर्थ जाने बिना जिनसे रहा नहीं जाता, अपनी वासनाओंकी पूर्तिमें बाधा पड़ती दीखती है, वे अर्थ उन्हींके लिये हैं। वास्तविक अर्थ

होता है । इसीसे अनिच्छित रुपये सामने आनेपर भी उनके द्वारा कुछ-न-कुछ काम करनेकी इच्छा आ गयी है । आपको तो केवल ध्यान करना चाहिये । व्यवहारके सम्बन्धमें एक भी प्रश्न आपके चित्तमें नहीं उठना चाहिये । जिस चित्तमें केवल 'सत्यं शिवम् सुन्दरम्' का ही ध्यान होना चाहिये, उसमें व्यावहारिक निष्ठुर कर्त्तव्योंका उदय क्यों हो? आप उनके द्वारा किसीकी भलाई कर सकते हो, परन्तु इससे आपके चित्तमें करनेका संस्कार बनेगा, दूसरोंकी आशा बढ़ेगी– आपसे उपकार प्राप्त करनेकी । इस प्रकार आप ध्यानसे वञ्चित हो जायँगे । व्यवहारके किसी भी बड़े-से-बड़े कामकी अपेक्षा भगवानमें एक क्षणकी भी चित्तकी स्थिति अनन्तगुनी उत्तम है, इसलिये अब सङ्कल्पोंकी परम्परा यहीं बन्द कर दीजिये । रुपयोंको न छूनेपर जब यह स्थिति है, तब उनके छूनेपर तो क्या दशा होगी– इसका अनुमान नहीं हो सकता । जो रात दिन रुपयोंमें ही रहते हैं, उनके चित्तका तो कहना ही क्या है ? वे रात दिन उनकी व्यवस्थाके सम्बन्धमें सोचते रहते हैं । अब आप उनका स्पर्श मत कीजिये । रुपयोंपर गोबर डालकर बिना छुए ही उन्हें उठा लीजिये और गङ्गाजीमें फेंक दीजिये । उन ध्याननिष्ठ महात्माने वैसा ही किया, तब कहीं जाकर उनका चित्त स्वस्थ हुआ । विरक्तोंके लिये इन बातोंका सम्बन्ध कितना विघ्नकारक है, यह इस घटनासे प्रत्यक्ष हो जाता है । इसीसे ध्याननिष्ठ लोग प्रायः इन प्रपञ्चोंसे अलग ही रहते हैं ।

(१०)

एक प्रेमी जिज्ञासुने अपने ऊपर अत्यन्त कृपा करनेवाले महात्मासे पूछा– 'भगवन् ! रहस्यकी बात क्या है ? जिसे गुरुलोग अपने एकान्तप्रेमी शिष्योंको गुप्तरूपसे बताया करते हैं, वह कौन सी बात है ?

महात्माने कहा– 'यदि मैं बता दूँ तो वह रहस्य ही कहाँ रह जायगा ? रहस्यकी बात दूसरा कोई नहीं बता सकता, उसका पता तो अपने आप ही लगाया जाता है। जिज्ञासुने कहा– 'तब तो वह बात मुझे कभी मालूम हो नहीं सकती। मैं तो आपसे ही जानना चाहता हूँ।'

महात्माने कहा– 'दो प्रणाली हैं, रहस्य बतानेकी। एकमें तो गुरु अत्यन्त प्रिय शिष्यको अपने महत्वकी बातें बताते हैं– मुझे इस प्रकार अनुभव हुआ है, यह वरदान मिला है, मैं यह हूँ इत्यादि। कई पन्थोंमें अपनी उपासना अथवा अपने गुरुजनोंकी उपासना बतलायी जाती है और शिष्यको अपनी साधनाके परायण होनेको कहा जाता है तथा उसकी रक्षा तथा त्राणका आश्वासन दिया जाता है। दूसरी प्रणाली अत्यन्त महत्वपूर्ण है और यह रहस्य केवल सच्चे गुरु ही बता सकते हैं। इसमें गुरुदेव समस्त जगत्की सत्ताके बाध के साथ-ही-साथ अपना भी बाध कर देते हैं और शिष्यसे कहते हैं– 'मैं नहीं हूँ, तू ही है। मैं, जिसे शरीरके रूपमें तुम देख रहे हो, जिसमें प्रवचन, युक्ति-कौशल, प्रेम, सदाचरण और शुद्ध व्यवहारको देख-सुनकर तुम श्रद्धावन्त हो जाते हो, जिसे कभी कभी भावातिरेकसे तुम भगवान् कहने लग जाते हो, वह मैं तुम्हारी कल्पनाके अतिरिक्त और कुछ नहीं हूँ। मैं और तुम दोनों उपाधिरहित, निर्विशेष एव एक हैं। न मैं मैं हूँ और न तू तू ही है। मैं, तू और वह–इन शब्दोंके अर्थ जिन्हें भिन्न-भिन्न मालूम पड़ते हैं, उन्हें रहस्यका ज्ञान नहीं है, वे तो स्थूलताओंमें और उनके संस्कारोंमें आबद्ध हैं। समस्त आवरणोंको फाड़ डालने पर केवल एक और केवल एक ही वस्तु ऐसी निकलती है, जो सबका एकमात्र अर्थ है। भिन्नताके अर्थ तो कामचलाऊ-व्यावहारिक हैं। वैसे अर्थ जाने बिना जिनसे रहा नहीं जाता, अपनी वासनाओंकी पूर्तिमें बाधा पड़ती दीखती है, वे अर्थ उन्हींके लिये हैं। वास्तविक अर्थ

तो सभी शब्दोंका एक ही है, उसे भले ही लक्ष्यार्थ कह लो। यह लक्ष्यार्थ और वाच्यार्थ का भेद भी व्यावहारिक ही है। इसलिये एक निर्विशेष सत् है, वही तुम हो, वही मैं हूँ। मुझे अपनेसे पृथक् सत्ता देनेवाले तुम ही हो।'

इस प्रकारका समत्व- यह आत्मदान, जो शिष्यको केवल गुरुके रूपमें ही नहीं, गुरुत्व और शिष्यत्वसे ऊपर परमात्माके रूपमें प्रतिष्ठित कर देता है, केवल सच्चा गुरु ही कर सकता है। यही रहस्य है।

(११)

एक जिज्ञासुने पूछा —भगवन्! अमुक महात्मा तो अपने शिष्यों का बहुत ध्यान रखते हैं! क्या यह किसी समदर्शी महात्मा के अनुरूप है? महात्माजी ने पूछा— शिष्य भी तो महात्माजी का बहुत ध्यान रखते होंगे? जिज्ञासुने कहा, क्यों नहीं, उन्हें तो रखना ही चाहिये। महात्मा जी बोले- तब जिसका ध्यान शिष्य रखते हैं, वह शिष्यों का ध्यान क्यों नहीं रखेगा? दोनों की एक ही दृष्टि है। शिष्य की दृष्टि में गुरु जो कुछ है, गुरु की दृष्टि में शिष्य भी वही है। इस विषय में एक सवाद बहुत प्रसिद्ध है।

परमहंस रामकृष्ण नरेन्द्र पर बड़ी कृपा, बड़ा स्नेह रखते थे। जब दो-चार दिन नरेन्द्र (पीछे स्वामी विवेकानन्द) उनके पास न आते तो वे बड़ी चिन्ता करने लगते थे। एक बार कई दिन तक नरेन्द्र के न आने से वे इतने चिन्तित हो गये कि उन्होंने नरेन्द्र को बुलाने को अपने एक भक्त को भेजा। अपनी छात्रावस्था मे नरेन्द्र बहुत ही खुले हुए थे। सङ्कोच तो उन्हें छू तक नहीं गया था। परमहंसजी के सामने तो वे नन्हें से शिशु की भाँति अपने मन की सब बातें कह दिया करते थे। उन्होंने आते ही पूछा- बाबा आप मुझसे इतना

प्रेम करते हैं, कहीं राजा भरत की भाँति (वे एक हरिन से प्रेम होने के कारण दूसरे जन्म में हरिन हो गए थे) आपको भी दूसरा जन्म न लेना पड़े ! परमहंसजी ने कहा– 'नरेन्द्र ! तुम हमारी दृष्टि से देखो तब तुम्हें मालूम होगा कि तुम कौन हो । शिष्य तो केवल श्रद्धा के बल से गुरु को भगवान् मानते हैं। गुरु की दृष्टि में तो ज्ञान और अनुभव से सब भगवान् स्वरूप ही दीखता है । तुम अपने को जैसा देखते हो, वह तो अज्ञान दृष्टि है । वास्तव में तुम भगवन्स्वरूप हो।'

इसलिए कौन महात्मा किसे किस दृष्टि से देखकर क्या व्यवहार करता है, इसे केवल वही जानता है— उसपर शङ्का करने की आवश्यकता नहीं ।

(१०)

तीस वर्ष से भी अधिक होगये उनका गोलोकवास हुए। वे व्रज के एक ख्यातिप्राप्त महात्मा थे। मस्त इतने थे कि बस क्या पूछना चोरों को भी माखन चोर समझ कर उनके साथ–खेल लेते थे। कभी अपने सखा के बन्दी बन जाते, तो कभी रूठ कर ऐसे बैठते कि दिनोंतक मानते ही नहीं। बड़े बड़े भक्त आते, परन्तु वे खेलते ही रहते। यह सृष्टि उनके लिए कर्मजन्य या अज्ञानजन्य नहीं थी। भगवान की लीलामात्र थी। इस लीला में लीलाप्रिय की इच्छा के अनुसार पात्र बने हुए भी एक सखा थे।

एक दिन एक प्रसिद्ध राजासे जो कि उनके भक्त थे, उन्होंने कहा– 'तू राजा बना फिरता है, मुझे भी एक दिन राजा बना दे !' राजा साहब बड़े श्रद्धालु थे। उन्हें बड़ा आनन्द हुआ। बाबाको अपनी राजधानीमें ले गये और तीन दिन के लिए बाकायदा उन्हें राज्य का सब अधिकार देदिया। अब बाबा राजा हो गये।

राजा होते ही बाबाने सब व्यवस्था वहाँ की उलट पलट कर दी। दीवान को दरबान और दरबान को दीवान बना दिया। रानी को दासी के काम पर नियुक्त कर दिया। राजकुमार को चोंटे लगवाये। चारों ओर तहलका मच गया। बाबासे ऐसी आशा तो किसीने नहीं की थी। सब लोग जा कर राजा साहबसे शिकायत करते परन्तु उसका भी तो कोई फल नहीं था। राजासाहब कहते–'भाई, शान्त रहो। वे बहुत बड़े महात्मा हैं, न जाने किस उद्देश्यसे क्या करते हैं। उनकी श्रद्धा ज्यों की त्यों रही। तीसरे दिन उन्होंने फिर सबको यथास्थान करके राजाको सब सँभला दिया।

राजाने बड़ी नम्रतासे पूछा– 'बाबा, यह सब किस अभिप्राय से आपने किया। महात्माजी बोले– 'तुम्हारा राज्य तो दुर्व्यवस्था का केन्द्र हो गया था। मैनेजर चपरासियोंको बेईमान समझते थे तो चपरासी मैनेजरको जल्लाद। मैनेजरकी दिक्कतें चपरासियोंको मालूम नहीं थी और उनकी कठनाइयोंका मैनेजरको पता नहीं था। इसीसे उनमें परस्पर बड़ा वैमनस्य चल रहा था। राजकुमारको मजा आता था– दूसराको पिटवाने म। उन्ह इस बातका बिल्कुल अनुभव नहीं था कि पिटनेमें कितना दुःख होता है। रानी भी दासियोंकी सजा करती करती परेशान हुई जा रही थीं। उन्हें दासियोंकी परिस्थिति और कठिनाईका बिलकुल ज्ञान नहीं था। मैंने सोचा कि मैं खिलवाड़ भी खेल लूँ और तुम्हारे परिजनों म से ये दोष भी निकल जाँय। इसलिये यह सब करना पड़ा। अस्तु, तुम अपना राज सँभालो। मेरी मस्तीमें मेरे माँग हुए रोटीके टुकड़ेमें जो सुख है, वह इस अमीरी मे कहाँ! फिर भी सब लाला की ही लीला है। तुम खिलौनासे खेलो और मै लाला से। इसके बाद वे ब्रजमें चले आये।

महात्माजीकी इस लीलासे क्या हम यह सीख सकग कि हमारे जीवनमें भी अपने सामने वाले की परिस्थिति देखने की आदत पड़ जाय!

(१३)

बड़े कृपालु थे वे महात्मा। जब-जब गङ्गातटपर वे आते, हम उनके दर्शनों को जरुर जाते थे। उनके पास कोई वस्त्र था तो कौपीन और पात्र था तो एक मिट्टी की हाँडी। वे बोलते बहुत कम थे, इतना कम कि उपदेशात्मक वाक्य का तो कभी उच्चारण ही नहीं करते। बहुत पूछने पर भी यही कहते "यह सब भगवान्‌की लीला ही लीला है। इसमें जो हो रहा है वही ठीक है, बेठीक कुछ भी नहीं। जो इसे बेठीक कहते हैं, वे भी ठीक ही कहते हैं। अपनी अपनी लीला सभी पूर्ण कर रहे हैं। चोर चोरीका, जज सजा की और जल्लाद फाँसीकी। सब ठीक ही तो है। फिर क्या प्रश्न और क्या उत्तर? वह भी ठीक है।"

हमारे बहुत आग्रह करनेपर उन्होंने अपने जीवनचर्य्याके परिवर्तनकी एक घटना बतलायी। वह उन्हींके शब्दोंमें तो नहीं जैसी याद है वैसी सुनिये।

'मैं लोगोंको उपदेश करता फिरता था। मुझे ऐसा अभिमान था कि मैं ज्ञानी हूँ, सदाचारी हूँ। दूसरोंको जब मैं अज्ञानी और दुराचारी देखता तो मुझे बड़ी दया आती। मैं अपनेको दूधका धुला देवदूत समझता था और दूसरोंको नरकका कीड़ा। मैं उस समय कितना दयनीय था, यह अब समझ सकता हूँ। परन्तु वह भी थी भगवानकी दया ही और यह भी दया ही है।

एक दिन मैं आरामकुर्सीपर बैठकर लोगोंके पतन और उत्थान की समस्या हल कर रहा था। सोचते-सोचते नींद आ गयी। मैंने स्वप्न देखा। स्वप्न में मैं एक महान् विद्वान् और सदाचारी उपदेशक था। मेरे रहनेका स्थान तो स्वर्ग था, परन्तु मैं कभी-कभी

उद्धार करते रहे हैं, यह निश्चय होते ही मैंने उपदेशका काम छोड़ दिया। लोगोंके उद्धारका ठेका तोड़ दिया भगवानने। मैं तभीसे सर्वदा, सर्वत्र, सब प्रकारसे भगवत्कृपाका अनुभव करता हूँ, और गंगातटपर विचरता रहता हूँ।'

(१४)

जब कई साधु इकट्ठे होते हैं तो प्रायः वे अपनी-अपनी यात्राओंके अनुभव एक दूसरेको सुनाया करते हैं। कनखलके सन्यासियोंमें ऐसे ही अवसरपर एक विरक्त महात्माके मुखसे मैंने नीचे लिखी बात सुनी थी।

उन्होंने कहा- 'एक बार गंगातटपर विचरता हुआ मैं कलकत्ते पहुँच गया। मनमें आया चलें शहरमें कुछ खिलवाड़ खेलें। जब मैं एक करोड़पति सेठकी गद्दीमें पहुँचा, तो वहाँके सभी लोग चकित रह गये। कहाँ मैं लँगोटी लगाये काला कलूटा भिक्षुक और कहाँ वे सेठ साहूकार! सेठजीने अपनी आँखें बहीके पन्नेपर गड़ा लीं। मैंने पुकारा- 'सेठजी! परन्तु सुने कौन? वे तो हिसाबमें मशगूल हो रहे थे। एक-दो बार पुकारनेपर मुनीमसे कहा- 'खजांचीजी, इसे एकाध पैसा दे दो और दरबानको कहला दो, आइन्दा ऐसे भिखमंगे अंदर न आने पावें।' मैंने कहा-'मुझे पैसा नहीं चाहिये सेठजी! मेरी बात तो सुनो!' परन्तु फिर भी सेठजीकी जगह मुनीम ही बोले- 'तब क्या गिन्नी लेगा? भाग जा यहाँसे। नहीं तो दरबानको बुलाता हूँ।'

'अन्ततः दरबान आया। मेरा गला पकड़कर वह ले जानेवाला ही था कि मैंने कहा- 'सेठजी, मैं तो जा रहा हूँ। न मुझे पैसे की जरूरत है और न तो तुम्हारी कोठी ही दखल करनी है। हाँ, एक

बात कहे देता हूँ– एक साल के भीतर तुम्हारी मौत हो जायगी। सिर्फ यही कहनेके लिये मैं तुम्हारे पास आया था। अब जाता हूँ।' इतना कहकर जो मैं वहाँसे चला तो सेठजीने आकर मेरे पाँव पकड़ लिये। मैं वहाँसे जानेका हठ करता और वे ठहरनेका। अन्ततः उन्हें मैंने समझाया– 'इस धनको अपना मत समझो। यह गरीबोंको बाँटनेके लिये तुम्हें दिया गया है। यद्यपि उन्हें अपनी स्थितिमें सन्तुष्ट रहना चाहिये फिर भी तुम अपने कर्त्तव्यसे विमुख क्यों हो रहे हो!' उन्होंने हाथ जोड़कर मृत्युसे बचनेका उपाय पूछा। मैंने उन्हें प्रतिदिन नाम, जप, दान, सेवा और स्वाध्यायका नियम दिलाया।

उन्होंने आगे कहा– 'मनुष्य भोगोंमें इतना रम गया है कि बिना भयके साक्षात् दर्शन हुए अब उसका उनसे छूटना कठिन हो गया है। भगवान् भी शायद युद्ध, महामारी, रोग-शोकद्वारा भय दिखाकर इसे मार्गपर ही लाना चाहते हैं, इतनेपर भी यदि यह मानव प्राणी चेत जाता!'

(१५)

काशीकी बात है। मैं एक सज्जनके साथ एक प्रतिष्ठित नेताके पास गया हुआ था। नेता बड़े यशस्वी और योग्य पुरुष थे। जब तक हम उनके पास बैठे थे, उनकी बार बार सिर झटक देनेकी आदत बड़े गौरसे देखते रहे थे और उनकी आँख बचाकर मुस्करा भी लेते थे। बात यह थी कि उनके सिरपर जो घुँघराले लम्बे लम्बे काले बाल थे वे बार बार कपोलोंपर आ जाया करते थे और वे उन्हें हटानेके लिये सिरको जरा पीछेकी ओर झटक दिया करते थे। प्रायः पाच-सात मिनटमें वे एकदो बार ऐसा अवश्य कर लेते।

जब हम वहाँसे चले तब मेरे साथी कहने लगे– 'यदि साधकको ऐसी आदत पड़ जाय तो क्या कहना ? जब-जब संसारकी चिन्ता अपने सिरपर आवे, तब तब उसे इसी प्रकार झटक कर फेंक दे। कितना सुन्दर अभ्यास है। मैं जो मुस्करा रहा था सो यही सब सोच कर।'

मैं सोचने लगा– 'यदि आदमी शिक्षा लेनेपर उतारू हो तो सभी जगह शिक्षा ग्रहण करनेके अवसर हैं। केवल उसके लिये उन्मुखता चाहिये। दत्तात्रेयजी महाराजके चौबीसों गुरु आज भी तो हमारे सामने घूमते रहते हैं। जो शिक्षा उन्होंने ग्रहण की थी, वह हम भी ग्रहण करें तो क्या दिक्कत है ?' यद्यपि वे मेरे साथी अपने सिरपर बाल नहीं रखते, फिर भी वे अपना सिर बार बार झटकते रहते हैं और हर बार अनुभव करते हैं कि मैंने संसारको झटक कर फेंक दिया।

(१६)

भगवान्की कृपाके सम्बन्धमें सत्सङ्ग चल रहा था। भक्त लोगोंका कहना था कि कृपासे ही सब कुछ हो जाता है, पुरुषार्थ अथवा साधनकी कोई आवश्यकता नहीं है। बाबा अपने आसनपर बैठे मन्द-मन्द मुस्करा रहे थे। भक्तोंका रुख देख कर वे एक बार बोले– 'सत्य ही है। भगवत्कृपा तो तत्व है। कोई माने या न माने, जाने या न जाने, वह तो सबपर एकरस है ही। साधक, असाधक सभी उस कृपाके महान् समुद्रमें ही बरफकी चट्टानकी तरह डूब उतरा रहे हैं। सबकी सबम्ना ही कृपामात्र से हुई है।' फिर चुप होकर मुस्कराने लगे।

एक भक्तने पूछा– 'महाराज जी, तब क्या पुरुषार्थका कोई उपयोग नहीं है ?' बाबाने कहा–'है क्यों नहीं ? पुरुषार्थ भी तो कृपा ही है।

साधनकी प्रेरणा भी तो कृपाकी ही अभिव्यक्ति है । तुम साधनाको कृपासे भिन्न क्यों मानते हो ?" भक्त—'फिर साधन न करना भी तो कृपा ही हुई ।' बाबा—'ठीक है । साधन करना और न करना दोनों ही कृपा है, इस प्रकारका विश्वास, निश्चय और अनुभव जिसे प्राप्त है वह तो महासाधन सम्पन्न है ।' भक्त-'परन्तु ऐसा विश्वास जिसे प्राप्त नहीं है, जो साधनमें संलग्न भी नहीं है, उसे क्या समझा जाय ?' बाबा- सत्य तो यह है कि उसकी यह स्थिति भी कृपासे शून्य नहीं है । हमारा क्षुद्र बुद्धि चाहे उसे कृपा न समझे, सब कृपा ही-कृपा है ।' बाबाकी बात सुनकर सब भगवान्‌की अनन्त कृपाका अनुभव करने लगे ।

कुछ समय बाद बाबा स्वयं बोले– 'जहाँ अपनी पृथक्ताका अनुभव है, जहाँ दुःखको छोड़कर सुख पानेकी इच्छा है वहाँ जीवको अपने धर्मका पालन करना ही पड़ेगा। जैसे भगवान्‌का धर्म है कृपा, वैसे ही जीवका साधन धर्म है । वह साधन क्या है ? भगवत्कृपापर विश्वास । विश्वास करना ही पड़ेगा । बिना विश्वासके कृपा होनेपर भी वह बेकार सी है । विश्वास करो इतना ही तुम्हारा पुरुषार्थ है । भगवान्‌की कृपा तुम्हें इसके लिये प्रेरणा दे रही है ।' इस प्रकार बाबा कह ही रहे थे कि एक आगन्तुकने आकर बाबाके सामने साष्टाङ्ग दण्डवत् किया। वह आदमी बड़ा घबड़ाया हुआ था । मालूम होता था, वह बहुत ही भूखा प्यासा है। उसका चेहरा मुरझाया हुआ था । बाबासे सान्त्वना पाकर वह कहने लगा—

'मैं एक अत्यन्त पापी जीव हूँ । मैंने जान बूझकर बहुतोंको दुःख दिया है, चोरी की है, हिंसा की है, व्यभिचार किया है, झूठ बोलकर लोगोंको धोखा दिया है । ऐसा कौन सा पाप है, जो मैंने न किया हो ? अब मेरा हृदय जल रहा है । ग्लानिमें मैं मरा जा रहा

हूँ। जीवन असह्य हो गया है। मेरी रक्षा करो, बाबा! मेरी रक्षा करो।' बाबाने कहा- 'तुम इतना घबराते क्यों हो? अब तो पाप हो गये हैं न? तुम्हारे घबड़ानेसे तो अब उनका होना न होना नहीं हो सकता! तनिक शान्त चित्तसे विचार करो। अब तो पाप हो गये। उनके लिये पश्चात्ताप कर ही रहे हो! प्रायश्चित्त करो, दण्ड भोगो नरकमें जाओ। जिस वीरतासे पाप किये, उसी वीरतासे उनका फल भी भोगो। घबड़ानेकी क्या बात है?' उस नवागन्तुक मनुष्यने कहा- 'महाराज, मेरे चित्तमें न शान्ति है न स्थिरता। सिवा मृत्युके अब मेरे लिये कोई उपाय नहीं है। मेरी वीरता न जाने कहाँ चली गई? अब तो मैं धधकती हुई आगमें जल रहा हूँ।' बाबा- 'तुम घबराओ मत। भगवान्की कृपापर विश्वास करो। उनका नाम लो। उनके प्रति आत्मसमर्पण कर दो। उनके होते ही तुम्हारे पाप ताप शान्त हो जायँगे। विश्वास करो भगवान्की अहैतुकी कृपापर। वह अब भी तुमपर है और वैसी ही है, जैसी हमपर और किसीपर भी।' नवागन्तुक-'प्रभो, मैं जल रहा हूँ। न मुझमें प्रायश्चित्त करनेकी शक्ति है और न तो विश्वास करनेकी। मेरा जीभसे नामोच्चारण भी नहीं होता। मैं आत्महीन हूँ, आत्मसमर्पण कैसे करूँ? जबतक मेरे पाप हैं तबतक मैं कुछ भी करनेमें असमर्थ हूँ।'

एक क्षण मौन रहकर बाबाने कहा-'अच्छा तुम एक काम करो। हाथमें गङ्गाजल, कुश और अक्षत लेकर अपने सारे पाप मुझे समर्पित कर दो! मैं सहर्ष उन्हें स्वीकार करता हूँ। मैं तुम्हारे सब पापोंका फल भोग लूँगा। तुम निष्पाप होकर भगवानकी शरणमें जाओ, उनकी कृपापर विश्वास करो।' आश्चर्यचकित होकर कुछ आश्वस्त सा वह बोला- 'बाबा, क्या ऐसा भी सम्भव है? मुझ पापीपर भी कोई ऐसे कृपालु हो सकते हैं जो मेरे पापोंका फल भोगनेके लिये उन्हें स्वीकार कर लें।' बाबा-'इसमें क्या सन्देह है! तुम भगवान्की दयालुतापर

सन्देह है क्या ? वे हम सबकी माँ हैं । माँ जब अपने बच्चेको गंदी नालीमें गिरा हुआ देखती है, तब उसके, स्नान करके आनेकी प्रतीक्षा नहीं करती है । वह तो दौड़कर बिना विचारे ही पहले उसे गोदमें उठा लेती है, फिर धोतीसे उसे पोंछती है । गौका बचा जब नालमें जकड़ा हुआ पैदा होता है, तब मा उसकी नालको, उसके गन्दे बन्धनको अपनी जीभसे चाट जाती है, उसके दोषोंको अपना भोग्य बना लेती है । इसीको वत्सला गौका वात्सल्य कहते हैं । भगवानका वात्सल्य तो इससे भी अनन्त गुना है । वे पापीको और पापोंको भी स्वीकार कर सकते हैं, करते हैं । तुम उनके अपने नन्हें-से शिशु हो, उनकी गोदमें हो । तुम विश्वास करो उन्होंने तुम्हें पहले स्वीकार कर लिया है । वे तुम्हारा सिर सूँघ रहे हैं । वे तुम्हें पुचकार रहे हैं । अनुभव करो और आनन्दमें मुग्ध हो जाओ ।'

उस समय सभी भक्त और उस आगन्तुककी आँखोंसे आँसू बह रहे थे। सबके शरीर पुलकित थ, सबके हृदय गद्गद् हो रहे थे। बाबाने कहा– 'अब भी तुम्हें शङ्का हो कि मुझ पापी को भगवान् स्वीकार नहीं करेंगे तो लाओ सङ्कल्प कर दो– मैं तुम्हारे पाप स्वीकार करता हूँ ।' नवागन्तुकने कहा– 'मेरा विश्वास हो गया, बाबा ! भगवान् मेरा उपेक्षा नहीं करेंगे । उन्होंने मुझे स्वीकार कर लिया, मेरा दृढ विश्वास है । अब मैं कभी उनके चरणोंसे दूर नहीं होऊँगा ।'

बाबाने भक्तोंसे कहा– 'यही पुरुषार्थका उपयोग है जो कि भगवान्की बड़ी कृपासे होता है । यदि ये मुझे अपने पापका दान देते तो भी इन्हें विश्वास करना पड़ता कि बाबाने मेरे पापोंको स्वीकार कर लिया। यदि इनके अन्तःकरणमें ऐसी श्रद्धा है, विश्वास है, शक्ति है, तो फिर विलम्ब क्या है ? भगवान्ने तो स्वीकार कर

ही रखा है। केवल विश्वासका विलम्ब है। यह विश्वास ही जीवका पुरुषार्थ है। यह पुरुषार्थ कृपाकी अनुभूतिका साधन है, तो कृपा पुरुषार्थकी अभिव्यक्तिका हेतु है। दोनों एक ही हैं।'

(१७)

एक बड़े शहरमें एक बड़े प्रतिष्ठित धनी निवास करते थे। उनके चित्तमें बड़ा वैराग्य था। भगवान्के भजनमें बड़ी रुचि थी। वे सोचते रहते थे कि कब वह अवसर मिलेगा, जब सबकी चिन्ता छोड़कर मैं भजनमें ही लग जाऊँगा। उनके सन्तान नहीं थी। एक भतीजा था, जिसके पढ़ाने लिखानेकी जिम्मेदारी सेठजीपर ही थी। वे उसको योग्य बनाकर भजनमें लगना चाहते थे।

कुछ दिनोंमें पढ लिखकर सेठजीका भतीजा योग्य हो गया। सेठजीने व्यापारका सारा कामकाज उसे सँभला दिया और अपना विचार प्रगट किया कि मैं तो अब व्रजमें रहकर भगवान्का ही भजन करूँगा। भतीजेने पूछा— 'चाचाजी इस घरमें, व्यापार में, रुपयों में, भोगोंमें, जो आनन्द है, भजनमें उससे अधिक आनन्द है क्या?' चाचाजी— 'इसमें क्या सन्देह है, बेटा! हमारा व्यापार, भोग और सुख तो अत्यन्त अल्प है। संसारके त्रैकालिक सुखोंको और मोक्ष सुखको भी यदि एकत्र करके एक पलड़ेपर रखा जाय और दूसरे पलड़ेपर भजनका लेशमात्र सुख रखा जाय, तो भी वह लेशमात्र सुख ही अधिक होगा। और तो अधिक क्या कहूँ, बेटा! भजनमें जो दुःख होता है वह भी संसारके सुखोंसे अच्छा है, श्रेष्ठ है।' भतीजा— 'चाचाजी! जब भजनमें इतना सुख है, तब मुझे इस दुःखरूप व्यापारमें लगाकर आप अकेले क्यों उस सुखका उपभोग करने जा रहे हैं? जिसे आप दुःख समझते हैं, उसमें मुझे डाल रहे हैं और आप सुखमें जा रहे हैं, भला यह कहाँ का न्याय है? मैं भी आपके साथ चलूँगा।' चाचाजी— 'बेटा मैं तो चाहता हूँ कि संसारके सभी लोग भगवान्में लग जाँय मुझे कई बार इस बातका दुःख भी होता है कि लोग ऐसा सुखमय

भजन छोड़कर प्रपञ्चोंमें क्यों फँसते हैं ? परन्तु संसारका अनुभव किये बिना इसके दुःखोंका ज्ञान नहीं होता । तुम अभी नवयुवक हो । तुम कुछ दिनोंतक संसारके व्यवहारोंमें रहकर इसके सुख दुःखोंको देख लो, फिर तुम्हारी रुचि हो तो भजनमें लग जाना ।'

भतीजा- 'आपकी बात हमें जँचती नहीं है । मैं सोचता हूँ कि जिस व्यापार आदिमें लगे रहकर आपने अपनी इतनी उम्र बितायी है, उसका अनुभव आपसे अधिक मुझे कब होगा ? जब आपका अनुभव इतना प्रत्यक्ष है, मेरी आँखोंके सामने है, तब फिर उसका अनुभव प्राप्त करनेके लिये इतना सुखद भजन छोड़ देना कहाँ तक उचित है ? इसलिये मैं भजनके लिये अवश्य चलूँगा । आप साथ न रहेंगे तो मैं अकेला ही चला जाऊँगा।

भतीजेका दृढ निश्चय देखकर सेठजीको प्रसन्नता हुई । अपनी सारी सम्पत्तिका उन्होंने ट्रस्ट बना दिया जिससे दीन-दुखियोंकी सेवा हुआ करे । दोनोंने समस्त वस्तुओंका त्याग करके मज्की यात्रा की । रास्तेमें चाचाजीने अपने भतीजेसे बात करते हुए कहा- 'बेटा ! ऐसी बात नहीं है कि घरमें भगवान्का भजन हो ही नहीं सकता । हो तो सकता है, होता है । मेरे सामने संसारके व्यवहार-व्यापारमें बहुत बड़ी कठिनाई थी । आजकल व्यापारकी प्रणाली इतनी कलुषित, इतनी गंदी हो गयी है कि बड़े-बड़े सत्पुरुषोंका व्यवहार भी पूर्णतः शुद्ध नहीं होता । जहाँ दूसरोंसे सम्बन्ध रखना पड़ता है, वहाँ कुछ न कुछ उनके सम्बन्धका ध्यान रखना ही पड़ता है । इसलिये कैसा ही सज्जन क्यों न हो, व्यवहारके क्षेत्रमें उसे विवश होकर अपराध करना पड़ता है । सम्भव है दो एक इसके अपवाद भी हों । परन्तु है बहुत कठिन । अवश्य ही यह व्यापारका दोष नहीं है, किन्तु कलियुगमें ऐसे व्यक्तियोंकी भरमार है । इसीसे जो लोग अपने ईमान और सचाई की रक्षा करना चाहते हैं अपने अन्तःकरणको शुद्ध रखना चाहते हैं; वे थोड़े-से-थोड़ा व्यापार करते हैं अथवा उससे बिल्कुल अलग होकर

भजन करने लग जाते हैं। भजन ही सर्वस्व है, भजन ही जीवन है। भजनके आनन्दके सामने त्रिलोकी तुच्छ है।'

दोनों ही चाचा और भतीजे ब्रजमें रहकर भजन करने लगे। सत्सङ्ग करते, लीला देखते, जप करते, ध्यान करते और ब्रजकी रजमें लोटते। दोनों अलग-अलग विचरण करते, अलग-अलग भिक्षा करते और रातको दूर-दूर रहते। कुछ दिनोंके बाद तो सत्सङ्ग करते-करते उनकी बुद्धि इतनी शुद्ध हो गयी कि एक को दूसरे की याद ही नहीं रहती। कोई कहीं रहकर भजन कर रहा है, तो कोई कहीं। दोनों मस्त थे।

एक दिन बड़ी विचित्र घटना घटित हो गयी। सेठजी जप कर रहे थे। उनके मनमें बार-बार खीर खानेकी इच्छा होने लगी। एक तो यों ही मनुष्य की इच्छाएँ उसके साथ जुड़ जाती हैं, दूसरे भजनके समयकी इच्छा तो कल्पवृक्षके नीचे बैठकर की हुई इच्छाके समान है। भगवान् अपने भक्तकी प्रत्येक इच्छा उचित समझकर पूर्ण करते हैं। थोड़ी-सी ही देरमें एक बारह बरसकी सीधी-सादी लड़की वहाँ आई और सेठजीके सामने दूध चावल और चीनी रख गयी। सेठजीको बड़ा आश्चर्य हुआ। वे भगवान्की भक्तवत्सलता देखकर मुग्ध तो हुए परन्तु उनकी खीर खानेकी इच्छा अभी मिटी नहीं थी। उन्होंने आग जलाकर खीर पकाना शुरू किया। अब उनके मनमें भतीजेकी याद आने लगी। वे सोचने लगे कि यदि वह भी आ जाता तो उसे भी खीर मिल जाती। चाचाके स्मरणका भाव भतीजेके चित्तपर पड़ा और वह अपने स्थानसे चलकर सेठजीके पास पहुँचा।

भतीजेकी स्थिति बहुत ऊँची थी। उसमें आत्मबल था। तभी तो वह एक ही दिनमें अपनी सारी सम्पत्ति छोड़ सका था। खीरकी तैयारी देखकर उसने चाचाजीसे सब बात पूछी और उदास हो गया। उसने कहा—'चाचाजी यदि खीर ही खानी थी, तो घर क्यों छोड़ा? वहीं रहकर जो कुछ बनता भजन करते, दूसरोंको खीर-पूड़ी खिलाते और खुद भी खाते। जिसको छोड़ दिया उसकी फिर क्या इच्छा?

जिसको उगल दिया, उसको फिर खाना—यह तो कुत्तोंका काम है। चाचाजी, आपने सनातन गोस्वामीकी बात तो सुनी होगी। इतने विरक्त थे वे कि अपने ठाकुरको भी बाजरेकी सूखी रोटी खिलाते थे। एक दिन ठाकुरजीने उनसे कहा—' भाई! कम से कम नमक तो खिलाया करो। सूखी रोटी मेरे मुँहमें गड़ती है।' भगवान्‌की यह बात सुनकर श्रीसनातन गोस्वामीको बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने कहा—'मेरे चित्तमें स्वादकी वासना होगी, तभी तुम ऐसा कह रहे हो। अन्यथा तुम्हें नमक की क्या आवश्यकता है?' सनातन गोस्वामीजीकी बात स्मरण करके हम तो अपनी दशापर बड़ा दुःख हो रहा है, अभी भोगोंकी आसक्ति हमारे चित्तसे मिटी नहीं। इसीसे तरह तरहके बहाने बनाकर और प्रत्यक्ष भी हम भोग चाहते हैं। न जाने भगवान् की क्या इच्छा है।' भतीजा बोल रहा था और सेठजी की आँखोंसे आँसू गिर रहे थे। 'यह भी भगवान्‌की कृपा ही होगी।' इतना कहकर वह ध्यान-मग्न हो गया।

थोड़ी ही देरमें वही लड़की जो खीरका सामान दे गयी थी, आयी। वह कहने लगी—'बाबा, तुम रोते क्यों हो? अबतक तुमने खीर भी नहीं खायी है? ऐसा क्यों? क्या मेरा कोई अपराध था?' उस लड़कीकी मधुर वाणी सुनकर दोनोंने आँखें खोलीं, तो वह लड़की साधारण नहीं ज्योतिर्मयी साक्षात् श्रीजी थीं। दोनोंने साष्टांग दण्डवत् करते न करते सुना कि श्रीजी कह रहीं हैं—'यह सब मेरी ही लीला थी। यह ब्रज भूमि मेरी भूमि है। यहाँ रहकर तुम करने-न करनेका अभिमान छोड़ दो। तुम कुछ करते नहीं, कर सकते नहीं। सब मैं करती हूँ। जबतक तुम अपनेको एक भी क्रिया या सङ्कल्पका कर्ता मानोगे, तबतक तुम्हें दुःख होगा। जैसे मैं रखूँ वैसे रहो। जो कराती हूँ वैसे करो। तुम मेरे हो।'

दण्डवत् करके जब इन दोनोंने आँखें खोलीं, तब वहाँसे श्रीजी अन्तर्धान हो चुकी थीं। वे जीवनभर मस्त देखे गये।

❀ स्वप्न की स्मृति ❀

प्राय लोग स्वप्नोंको भूल जाया करते हैं। बुरे स्वप्न तो जगनेपर भी कुछ समयतक याद रहते हैं परन्तु अच्छे स्वप्न शीघ्र ही विस्मृतिकी गोदमें सो जाते हैं। स्वप्नकी तो बात ही क्या जाग्रतकी भी अधिकांश बातें भूल ही जाते हैं। रह जाता है कुछ तो केवल राग-द्वेषका संस्कार। उसमें भी रागकी अपेक्षा द्वेषका अधिक। परन्तु मैंने बहुत पहले एक स्वप्न देखा था। वह स्वप्न था जीवनके आदर्शका स्वप्न। यदि मैं उसे अपने जीवनमें उतार पाता! परन्तु अबतक तो नहीं उतार पाया। उसके लिये जैसी चेष्टा होनी चाहिये थी वैसी चेष्टा भी नहीं हुई। फिर भी मैं उसे भूला नहीं हूँ। वह मेरी स्मृति में वैसे ही नया है। यदि मेरा जीवन उसके अनुसार बन गया होता तो आज यह लिखनेका अवसर ही न आता। मैं अपने प्राणनाथ, अपने प्रियतम श्रीकृष्णकी मधुरतम स्मृतिमें तल्लीन होता। परन्तु मेरी लगन का अभाव और मेरी शिथिलता मेरे पीछे लगी है। क्या करूँ? बैठे-बैठे उस स्वप्नकी याद करूँ! वह स्वप्न! हाँ, वह स्वप्न अत्यन्त मधुर है। उसकी स्मृति इस भजनहीन जाग्रत्‌की अपेक्षा तो बहुत ही सुन्दर है।

मैंने स्वप्न देखा था—एक ओरसे धीरे धीरे गम्भीर यमुना बिना शब्द किये चुप-चाप आ रही हैं। दूसरी ओरसे भगवती भागीरथी बड़े वेगसे हर-हर करती आ रहीं हैं। दोनोंके बीचमें बड़ा ही सुन्दर एक बरगदका वृक्ष है। उसके नीचे भगवान् शिवकी कपूरके

समान श्वेतवर्णकी मूर्ति है। मैंने उन्हें श्रद्धा भक्तिके साथ प्रणाम किया। मैं उस समय पन्द्रह या सोलह वर्षका लड़का था। वासनाएँ अधिक नहीं हुई थीं। मैं क्या करूँ? किस प्रकार आगका जीवन बिताऊँ? यही प्रश्न उस समय मनमें उठा। मैं सच्चे हृदयसे भगवान् शङ्करकी प्रार्थना करने लगा। मेरे मनमें न छल था, न कपट था, और न दम्भ था। मेरा अन्तस्तल प्रेमसे उमड़ पड़ा। आँखोंसे आँसू गिरने लगे। मैंने कहा—'भगवान्! मुझे मार्ग बताओ!' मेरी प्रार्थना सुनी गयी। उत्तर मिला— 'यहाँ तीन नदियाँ बह रही हैं। किसी एकका किनारा पकड़कर ऊपर की ओर बढ़ो। जिधरसे जल आ रहा है, उधर बढ़नेपर तुम्हें मार्ग-दर्शक मिल जायगा।'। मैंने सोचा— यहाँ दो ही नदियाँ बहती हैं। तीसरी कौन है? नीले जलकी यमुना, मटमैले जलकी गंगा और तीसरीका जल कैसा है? उसी समय मुझे अत्यन्त सूक्ष्म प्रणवकी ध्वनि सुनाई पड़ी। झीने से, रूपरहितसे जल का अनुभव हुआ। मानो इडा पिङ्गलाके बीचमें ज्ञानकी धारा सुषुम्णा ही प्रवाहित हो। मुझे स्मृति हो आयी—यह तो सरस्वती है। इसी के किनारेसे क्यों न चले जाँय? ठीक तो है। बस, मैं चल पड़ा।

बड़ा सुन्दर मार्ग था। स्थान स्थानपर सुन्दर-सुन्दर रंग-बिरंग कमल थे। हंस, परमहंस, सारस आदि विहग विहार कर रहे थे। तरंगें उठती थीं, परन्तु दीखती न थीं। अमृतकी धारा थी, आनन्द का तट था। न सूर्य था, न चन्द्रमा। मधुमयी रश्मियाँ छिटक रहीं थीं। कहाँसे आ रही थीं, मुझे पता नहीं। बड़ा ही सुन्दर स्फटिकका मार्ग था। केसरकी क्यारियाँ दोनों ओर सजायी हुई थीं। कहीं कहीं धारा बड़ी सूक्ष्म, बड़ी ही पतली हो जाती थी। परन्तु मैं चला जा रहा था, सीधे मार्गपर। भगवान् शिवपर मेरा पूरा विश्वास था। कोई शंका नहीं थी। मैंने देखा—एक सज्जन मुझसे आगे जा रहे हैं। मोटेसे-छोटेसे, सरल, हँसमुख, आनन्दकी मूर्ति और फुर्तीले। उनके

साथ एक लड़का भी है। गोरा-सा, छरहरा-सा, प्रसन्न और अनुगत। मैंने सोचा कि ये मेरे मार्गदर्शक तो नहीं हैं? परन्तु जब ये इसी मार्गसे जा रहे हैं तब पीछे-पीछे चलनेमें क्या आपत्ति है? मैं उनके पाससे ही चलने लगा। लड़केने पूछा—'भगवन्, वृन्दावन अभी कितनी दूर है?' उन्होंने कहा- 'यहाँसे अधिक दूर है। हमारे मनमें जितनी उत्सुकता होगी उतना ही शीघ्र हम वहाँ पहुँच सकेंगे। वहाँका मार्ग प्रेमका, लगनका है, पैरों से वहाँ कोई नहीं पहुँच सकता। जब ऐसे वृक्ष मार्गमें पड़ने लगें, जिनका मुँह नीचेकी ओर हो तब समझना कि वृन्दावन पास ही है।'

उस लड़केने पूछा-'भगवन्! वृन्दावनके वृक्षोंका मुँह नीचेकी ओर क्यों रहता है?' उन्होंने कहा—'भाई! वहाँके वृक्ष साधारण वृक्ष थोड़े ही हैं। वे परम प्रेमी हैं। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि और देवता हजारों वर्ष तपस्या करके श्रीकृष्णकी कृपासे वृन्दावनके वृक्ष होते हैं। उनके नीचे भगवान् खेलते हैं, लीला करते हैं, उन्हींको देखनेके लिये वे अपना मुँह नीचे किये रहते हैं। उनके एक-एक पत्ते उनकी आँखें हैं। वे अतृप्त नयनोंसे उनकी लीलाका रस लिया करते हैं। श्रीकृष्णकी लीला बड़ी मधुर है, मधुमय है। बिना उनकी कृपाके उसमें किसीका प्रवेश नहीं हो सकता। चलो, आज तो तुम्हें चलना ही है।' दोनों आगे बढ़ने लगे। मैं उनके पीछे पीछे चलने लगा।

कुछ क्षणोंके बाद पुनः उस लड़केने पूछा-'भगवन्! आपने कौनसी साधना की जिससे भगवान्की लीलामें आपका प्रवेश हुआ? कृपया आप इस विषयका अनुभव सुनाते चलें तो बड़ा अच्छा हो। भगवान्की चर्चा भी होती चले, मार्ग भी कटता चले।' उन्होंने कहा-'भाई! मेरा अनुभव ही क्या है? मैंने साधना ही क्या की है? मेरा कुछ अनुभव है भी तो केवल कृपाका है, केवल कृपासे

है । वास्तवमें सम्पूर्ण जीवों पर, समग्र जगत्‌पर भगवान् की अनन्त और अपार कृपा की अगाध धारा बरस रही है । सब डूब-उतरा रहे हैं कृपाके महान् पारावार में। परन्तु इसका अनुभव भी कृपासे ही होता है । मेरा जीवन क्या है ? तुम्हारा जीवन क्या है ? सबका जीवन क्या है ? उन्हींकी कृपाका एक कण। कृपा नहीं ! सम्पूर्ण कृपा तब मेरी साधना क्या है ? उन्हींकी कृपा का दर्शन । मैंने जिस प्रकार उनकी कृपाका दर्शन किया है, यदि तुम यह सुनना ही चाहते हो तो लो, सुनो । परन्तु स्मरण रहे, यह सब उनकी कृपा है, मैं या मेरा कुछ नहीं है ।'

मेरे एक मित्र थे-बड़े श्रद्धालु, बड़े विश्वासी । वे प्रतिदिन सत्सगमें जाते, उपदेश सुनते, भगवान्‌का भजन करते । मुझमें श्रद्धा न थी, न विश्वास था और न तो मैं भजन ही करता था । वे मुझे बहुत समझाते । कहते कि 'देखो, भक्तोंमें कितनी शान्ति है ? ससार के लोग बहुतसे साधन और सामग्रियों के पास रहने पर भी दुःखी हैं, अशान्त हैं, उद्विग्न हैं। परन्तु सत बिना परिश्रमके भी सुखी हैं, शात हैं, आनन्दित हैं । उन्हें क्रोध नहीं आता, शोक नहीं होता। वे किसी से भयभीत नहीं होते। उनसे किसीका अनिष्ट नहीं होता । उनके हृदयमें कभी जलन नहीं होती । परमार्थिक आनन्द को यदि न मानें तो भी उन्हें कितनी शान्ति है ? चलकर देखो तो सही ? मैं उनके साथ सत्सगमें जाने लगा ।

'सतों पर मेरे मित्रकी स्वाभाविक श्रद्धा थी। परन्तु मेरे हृदयमें वह बात न थी । मैं कई बार उनमें दोष भी देखता । बीचमें दो चार दिन जाना छोड़ भी देता। फिर भी उनमें मुझे कोई घसीट ले जाता । श्रद्धाके डावाँडोल रहने पर भी उनके पास जाना ही पड़ता । पता नहीं क्या आकर्षण था ? देखादेखी कुछ नाम भी मुँहसे

निकल जाते। एक दिन मैंने एक सतसे अपनी अश्रद्धाकी बात कह दी। प्रार्थना की कि 'भगवन्! कमसे कम मेरी अश्रद्धा तो दूर कर दीजिये।' वे हँसने लगे। उन्होंने कहा—'कुछ भजन करो, भगवान्की कृपासे सब हो जायगा।' मैं राम-राम करता हुआ घर लौटा।

'मुझे ऐसा मालूम होने लगा कि वे सत मेरे साथ हैं। जब मनमें अश्रद्धाके भाव उठते तो सामने ही चार-पाच हाथ की दूरी पर जमीन से कुछ ऊपर हँसते हुए-से वे दिख जाते थे। कभी मनमें पाप-प्रवृत्ति होती तो ऐसा जान पड़ता कि मेरे सिरपर, गालों पर तड़ातड़ चपत लगा रहे हैं। पाप कर्मकी ओर चलता तो वे आकर सामने खड़े हो जाते, कोई-न-कोई रोकनेवाला निमित्त अवश्य आ जाता। मेरे मनमें श्रद्धाका सचार हो गया। क्रियात्मक पाप तो सर्वथा छूट ही गये। मैं नाम-जप करने लगा। उस समय मनमे बड़ा उत्साह था। जैसे बुद्धिमान् और अध्ययनशील विद्यार्थी सोचता है कि अब सम्पूर्ण शास्त्रों को मैं समाप्त कर डालूगा, वैसे ही मैं भी सोचता कि एक-न-एक दिन मैं समस्त सीढ़ियों को पार करके भगवान् के पास पहुच जाऊँगा। मार्ग चाहे जितना लम्बा हो, मैं अवश्य-अवश्य अन्त करके छोड़ूँगा। मैं साहस, उत्साह, उद्यम और शक्ति के साथ अपने मार्ग पर चलने लगा।

'इस (उत्साहमयी) अवस्था के बाद मुझे उन सन्तके दर्शन कम होने लगे। वे रहते तो मेरे पास ही थे, परन्तु न जाने क्या विषयोंसे युद्ध करते समय अब पहले की भाति वे नहीं दिखते थे। शायद इसलिये कि मैं विषयोंसे लड़कर अपनी शक्तियों का विकास करूँ, उन्हें जानूँ और उनका विस्तार करूँ। शायद इसलिए कि मैं असहाय अवस्था में भगवान्की कृपा, सहायता और शक्ति का अनुभव करूँ। बात चाहे जो रही हो, अब वे प्रकट रूप से मेरी सहायता

नहीं करते थे। कभी-कभी भगवान् के स्मरणसे मेरी, वृत्तियाँ घनी हो जाती, कभी विषयों के स्मरणसे तरल, शिथिल और कमजोर। इस प्रकारकी कुछ दिनोंतक मेरी यही (घनतरला) अवस्था रही।'

विषयोंके सामने आनेपर मन खिंचने-सा लगता। मैं दूसरी ओर लगाना चाहता तो भी नहीं लगता। मैंने सोचा-विषयोंका सामने आना ही सबसे बड़ा रोग है। यदि ऐसे स्थानमें रहूँ, जहाँ ये संसारके सुन्दर-सुन्दर विषय पहुँच ही न पावें तो फिर इनसे खिंचनेका प्रश्न हल हो जाय। न रहे बाँस, न बजे बाँसुरी। परन्तु दूसरे ही क्षण दूसरे प्रकारके विचार मनमें आते। सोचने लगता-'घर-द्वार छोड़कर वनमें गया और यदि वहाँ भी भोजन-वस्त्रकी चिन्ता सताने लगी तो क्या होगा? यदि भजन ही करना है तो यहीं क्यों नहीं किया जाय? इस प्रकार अनेकों सङ्कल्प-विकल्प उठते। इस चञ्चल (व्यूढ-विक्षिप्ता) मनोवृत्तिसे घबड़ाकर मैंने उन सन्तकी शरण ली। उन्होंने कहा 'अभी तुम सन्यासके अधिकारी नहीं हो। विषयोंके वश हो जानेवाला या उनसे युद्ध करनेवाला सन्यासमार्गमें प्रवेश करने योग्य नहीं है। जिसने विषयोंपर पूर्णतः विजय प्राप्त कर ली है, वही सन्यासकी ओर कदम बढ़ा सकता है। तुम भजनके लिये अलग एक स्थान बना लो। भजन करो, विषयपर विजय प्राप्त करो।' 'मैं एकान्तके एक कमरेमें भजन करने लगा।

'विषयोंके साथ संग्राम करनेका अवसर तो अब आया। जब एकान्तमें बैठता तब नाना प्रकारके विषय आकर सामने नाचने लगते। उनके भोगोंकी कल्पना होती। भोग करनेके अनेकों बहाने सूझते-कभी कभी तो मेरा मन उनके प्रवाहमें बह जाता। मैं प्रातःकालसे ही उनको दूर करनेके लिये सचेष्ट रहता। निद्रा टूटते ही भगवान्से प्रार्थना करता और आर्त स्वरमें स्तुति करता। बहुतसे दिन ऐसे भी आते, जब

विषयोंका चिन्तन कम, भगवान्का स्मरण अधिक होता। किसी-किसी दिन विक्षेप बिलकुल नहीं रहता। परन्तु सब दिन एक सरीखे नहीं बीतते थे। कभी मेरी जीत और कभी विषयाभिमुख मनकी जीत। इस प्रकार यह (विषयसगारा) मनोवृत्ति कुछ दिनोंके लिये चलती रही मैं इस विषम परिस्थितिको हटानेके लिये रो रोकर भगवान्से कहा करता था।

भगवान् बड़े दयालु हैं। उन्हें कोई सच्चे हृदयसे पुकारे और वे न सुनें, ऐसा न कभी हुआ है और न तो कभी हो ही सकता है। उन्होंने मेरे अन्दर शक्तिका, बलका सञ्चार कर दिया। मेरा मन मेरे अधीन जान पड़ने लगा। दोषोंकी ओरसे स्वभावतः उदासीन हो गया। दोषों या विषयों के चिन्तनका निमित्त उपस्थित होनेपर उनकी ओरसे विमुख हो जाता। परन्तु अब भी मेरे अन्दर एक बहुत बड़ा दोष था। मैं नियम तो बहुत से बनाता परन्तु उनका पालन ठीक न होता। प्रतिदिन एक लाख नामजप करनेका नियम बनाया। परन्तु कभी-कभी पूरा होनेमें कुछ कसर रह जाती। दो घंटे ध्यानका निश्चय किया, फिर भी उतने समय तक ध्यान न कर सका। करता भगवान्का ही काम, परन्तु ध्यानके समय जप, जपके समय स्वाध्याय और स्वाध्याय के समय पूजा। इस प्रकार नियमोंके पालन में मेरी मनोवृत्तिया असमर्थ रहने लगीं। मैं प्रार्थना करता — हे प्रभो! इस (नियमाक्षमा) वृत्तिको नष्ट करदो। निश्चय करता कि आजसे ऐसा न होने दूँगा। परन्तु हो ही जाता। भगवान्की अपार कृपासे कुछ दिनोंमें नियमों का पालन भी होने लग गया।

'जब भगवान्की कृपासे भजन होने लगा तब मेरे सामने प्रलोभनकी भीड़ लग गई। ससारकी सुन्दर-सुन्दर वस्तुएँ मेरे पास आने लगीं। कोई मेरे सामने रुपये रख जाता; कोई माला फूल आदिसे चन्दनसे पूजा करने आता, कोई स्तुति, प्रशसा करता और घूम-घूमकर

मेरी महिमा गाता। कभी-कभी मनको ये सब अच्छे भी लगते। पहले कोई गाली देता, निन्दा करता था तो उस ओर दृष्टि ही नहीं जाती थी। अब उसका ख्याल होने लगता था। किसीसे कहता नहीं था तो केवल इसलिये कि जब इतने लोग मेरी महिमा गाते हैं तो एक-दो की की हुई निन्दाका क्या मूल्य है? परन्तु मैं सचेत हो गया। बहुत दिनों तक उन तरंगोंमें नहीं रहा। मैंने बाह्य जगत्से आँखें बंद कर लीं, उस स्थानसे हट गया।'

अब मुझे देवताओंके दर्शन होने लगे। कोई आकर कहता 'चलो तुम्हें स्वर्गका उत्तम सुख प्राप्त होगा।' कोई कहता—'तुम्हें ब्रह्मलोक मिलेगा। उससे उत्तम कोई लोक नहीं। महाप्रलयपर्यन्त सुख भोगना फिर ब्रह्माके साथ मुक्त हो जाना।' कोई कहता-'मैं तुम्हें तत्त्वज्ञानका उपदेश करता हूँ। तुम अभी कैवल्यमुक्ति प्राप्त कर लो, अभी जीवन्मुक्त हो जाओगे।' मेरे मनमें मुक्तिका महत्त्व आता, ब्रह्मलोकका महत्त्व आता और कभी-कभी सोचता कि क्या न इसे स्वीकार कर लिया जाय। अपरिमित कालतक ब्रह्मलोकका सुख और फिर मुक्ति। इससे बढ़कर और क्या होगा? इस (तरङ्गरङ्गिणी) मनोवृत्तिमें मैं बहते-बहते बचा।

बात यह थी कि मेरे भजनका नियम पूर्ववत् चल रहा था। कभी एक दिनके लिये भी उसमें किसी प्रसंगका व्यवधान नहीं पड़ा। जब मेरी मनोवृत्ति ब्रह्मलोक या मुक्तिकी ओर झुकती तब मुझे ऐसा मालूम होता, मानो नन्हें से श्रीकृष्ण मेरे कन्धोंपर बैठकर मेरे बाल खींच रहे हैं, मेरे गालोंपर चपत लगा रहे हैं। कभी ऐसा जान पड़ता कि वे मेरी गोदमें बैठे हुए हैं और रो रोकर कह रहे हैं कि तुम मुझे छोड़कर ब्रह्मलोक या मुक्ति क्यों चाहते हो? मैं उनका कोमल स्पर्श अनुभव करता। उनकी मुखकी विवर्णताका अनुभव करता। उनकी

आँखोंमें जब मैं आँसू देखता तो मेरा कलेजा फटने लगता। मेरा हृदय हहर उठता, सिहर उठता, सिहर उठता। मैं प्यारसे उन्हें अपने हृदयसे सटा लेता और कहता—'प्यारे कृष्ण! मैं तुम्हें छोड़कर कहीं नहीं जाऊँगा। मैं तुम्हारा प्यार करूँगा, दुलार करूँगा। तुम्हारे लिये मरूँगा। तुम्हारे लिये जिऊँगा। तुम्हारे अतिरिक्त मेरा और कोई नहीं।' वे मुस्कराकर मेरे हृदयसे चिपक जाते और कहते 'हाँ, मैं तुम्हें कहीं नहीं जाने दूँगा। अपने पास रखूँगा। तुमसे खेलूँगा तुमसे हँसूँगा, तुमसे बोलूँगा।' मैं अपने प्राणप्यारे कन्हैयाकी बात, वह तोतली बोली सुनकर निहाल हो जाता। मैं एक-दो मुक्ति नहीं, अनन्त मुक्तियोंको उनके चरणों पर न्यौछावर कर देता।

'मैं चलते-फिरते, उठते-बैठते सर्वत्र सर्वदा उनकी सन्निधिका अनुभव करता। जो वस्तु मेरे सामने आती उसीके हृदयमें बैठे हुए वे दीख जाते। उसके हृदयमें ही नहीं, ऐसा जान पड़ता कि उसका रूप बनाकर भी वही आये हैं। किसीसे मिलनेमें, किसी भी परिस्थितिका सामना करनेमें मुझे झिझक नहीं होती थी। झिझक तो तब होती जब वहां श्रीकृष्ण नहीं होते। श्रीकृष्णसे क्या संकोच? मैं हर जगह, हर हालतमें उनकी अनूप रूपमाधुरीका पान करके मस्त रहता। कभी वे बाँसुरी बजाते और मैं नाचता। कभी मैं ताली बजाता और वे ठुमुक-ठुमुककर नाचते। कभी पीछेसे आकर मेरी आँखें बन्द कर लेते। कभी वे छिप जाते, मैं ढूँढते-ढूँढते खेलकी बात भूल जाता और उन्हें सचमुच अपनेसे अलग मानकर, पानेके लिये छटपटाने लगता, रोने लगता, तब वे हँसते हुए मेरे पास आ जाते।'

उन्होंने उस लड़केसे कहा—'वास्तवमें भगवान् हमारे साथ आँखमिचौनी खेल रहे हैं। वे कहीं गये थोड़े ही हैं। यहीं कहीं

छिपे होंगे। बहुरुपिये ये हैं न, देखो कैसे-कैसे रूप बनाकर हमें छका रहे हैं। मैं जानता हूँ उनका छलछद्म। मैं पहचानता हूँ उनके सब रूपोंको। मुझसे छिपकर वे कहाँ जायेंगे? जो लोग इस क्रीड़ाका, खेलका, रमणका रहस्य नहीं जानते, वे इन वस्तुओंको उनसे भिन्न समझकर भटका करते हैं, अथवा उनके लिये रोया करते हैं। जो रोते हैं, वे पा जाते हैं, जो नहीं रोते वे भटकते हैं। पानेवाले क्रीड़ाका रहस्य भी जान जाते हैं। देखो, उस अजब खिलाड़ीका खेल! खुद ही खेल खुद ही खिलाड़ी और देखनेवाला भी अपने आप ही। यही तो उसकी लीला है।

'हाँ, तो अब वृन्दावन आ गया। चलो तुम, भगवान्‌की लीला देखो। हम लोगोंके पीछे एक और बालक आ रहा है। अब वह इससे आगे नहीं जा सकता। ठहरो, उसे समझाकर लौटा दें तब आगे चलें। यह सब बातें मैंने उसीके लिये कही हैं। वह यदि इनके अनुसार अपना जीवन बना सकेगा तो उसका भी भगवान्‌की लीला में प्रवेश हो सकेगा।'

वे दोनों ठहर गये। मैं पास चला गया। उन्होंने मुझसे कहा—'भैया, यह भगवान्‌का लीला-लोक है। यहाँ सबका प्रवेश नहीं है। जो लोग स्थूल शरीर में आसक्त हैं, जिनका मन कलुषित है, जिनके हृदयमें प्रेमभक्ति नहीं है, वे यहाँ नहीं आ सकते। यहाँ केवल वे ही आ सकते हैं, जिन्होंने कलुषित मन और कलुषित शरीरका चोला त्याग दिया है। इसका उपाय है—भजन, एकमात्र भजन। जाओ प्रेमसे भजन करो और प्रेमके मार्गमें आगे बढ़ो।'

मैं कुछ और कहनेवाला था। परन्तु उसी समय आरती की घंटी बज उठी। मेरी नींद टूट गयी और मैंने देखा कि पांच बजनेमें अब कुछ ही देर है। वह एक स्वप्न था। मेरे भविष्य जीवनके

लिये एक आदेश था। उसीपर मेरी सफलता निर्भर करती थी। परन्तु मैंने कुछ न किया। अपने सिरपरसे दोषोंकी गठरी न उतारी। आज भी मुझे वह स्वप्न याद है, और मैं निश्चयपूर्वक कहता हूँ कि मेरा वह स्वप्न इस जाग्रत् की अपेक्षा बहुत अच्छा था। यदि मैं जीवनभर वह स्वप्न ही देखता रहता। परन्तु मेरा भाग्य इतना अच्छा कहाँ? यदि उस स्वप्नकी स्मृति बनी रहे तो भी बड़ा सुख हो। क्या ऐसा हो सकेगा? हाँ! स्वप्नकी स्मृति, स्वप्नके पदार्थोंकी स्मृति? ना, ना, श्रीकृष्ण की स्मृति!!

भक्तोंके दस भाव

सम्मानबहुमानप्रीतिविरहेतरविचिकित्सामहिमख्याति-तदर्थप्राणस्थानतदीयतासर्वतद्भावाप्रातिकूल्यादीनि च स्मरणेभ्यो बाहुल्यात् ॥

(शां० भ० सू० ४४)

स्नान-सन्ध्याके पश्चात् अपनी कुटीरके किवाड़ बन्द करके अकेले ही बैठा हुआ था। पहले तो चेष्टा यही थी कि संसारकी बातें मनमें न आवें, केवल भगवान्का ही स्मरण हो। परन्तु मनीराम कब मानने लगे। इन्होंने अपनी उछल-कूद शुरू की। बिना मतलबकी, व्यर्थकी बातें दिमागमें आने लगीं। फिर शाण्डिल्यका उपर्युक्त सूत्र याद आया और उसीपर कुछ विचार करने लगा। मनकी दौड़ती हुई वृत्तियोंके साथ उसका कुछ मेल था, ऐसा जान पड़ता है। मनके साथ उसका कुछ मेल था, ऐसा जान पड़ता है। मनके साथ वे दृश्य भी बदल रहे हैं। इसीसे बाहरी बातें भूलती गयीं और मैं अधिकाधिक उन दृश्योंके साथ तल्लीन होता गया। मैं मानो एक दूसरे लोकमें चला गया। वहाँ जो कुछ देखा उसकी एक धुँधली स्मृति अब भी है। वह है तो स्वप्नकी ही भाँति परतु जाग्रत्‌की अपेक्षा अधिक सुन्दर है। यदि उस लोकमें मुझे अनन्त-काल तक रहना पड़े तो भी मैं अतृप्त ही रहूँ। हाँ! तो उसके एक अस्पष्ट छायाचित्रके दर्शनकी पुन चेष्टा की जाय।

हाँ तो भगवान्का सम्मान कैसे किया जाय? अपनेको शिष्टाचारका तो कुछ पता नहीं। जिनके घर भगवान् आते हों वे ही

सम्मानका रहस्य समझ सकते हैं। तब हमें सम्मानकी क्या पड़ी है? सम्भव है कभी आ जायँ। अजी! वे हमारे-जैसे पामरके घर क्यों आने लगे? नहीं-नहीं वे बड़े दयालु हैं। कभी आ सकते हैं, अवश्य आयँगे। शायद आते भी हों। तब सम्मान करना सीखना चाहिये, न जाने किस रूपमें वे आ जायँ? फिर सीखें किससे? अर्जुन, हाँ अर्जुनसे तो सम्मानका पाठ पढ़ा जा सकता है। वह सर्वदा उनके साथ ही रहते हैं। दो घड़ीके लिये कोई आ जाय तब तो शिष्टाचारका निर्वाह किया जा सकता है। बहुत दिनोंतक एकसाथ रहनेसे अनादर होने लगता है, परन्तु अर्जुनने साथ रहकर भी सम्मानमें त्रुटि नहीं की। अन्तमें क्षमा भी मागी कि कहीं अनजानमें अपराध न बन गया हो। अर्जुन अपने महलमें बैठे हों-किसी काममें तल्लीन हों, जहाँ मालूम हुआ कि श्रीकृष्ण आ रहे हैं, बस फिर क्या था? उठ पड़े। अरे यह क्या! उनकी अगवानी करनेके लिये झपटे जा रहे हैं। बस फिर कितनी प्रसन्नता है, कितना उल्लास है, रोम-रोम खिल उठा है। अच्छा, चरणोंमें गिरते-गिरते भगवान्‌ने हृदयसे लगा लिया। अहा, कितना आनन्द है? परन्तु अर्जुन तो संकोचसे अपने आपमें ही सिकुड़े जा रहे हैं। अन्ततः चरणस्पर्श कर ही लिया। अञ्जलि बाँधकर बगलसे कितनी नम्रताके साथ लिवाये जा रहे हैं? सोनेकी चौकीपर बैठाकर पैर धो रहे हैं। अहा! भगवान्‌के लाल-लाल सुकुमार तलवे कितने सुन्दर हैं? अपनी ही अँगोछीसे पोंछ रहे हैं। चेहरेपर प्रेमकी मस्ती झलक रही है। रत्नजटित सिंहासनपर बैठाकर जलपान, इलायची आदिका प्रबन्ध कर रहे हैं। एक ओर खड़े होकर चवँर डुला रहे हैं। उनके रोम-रोम आज्ञाकी प्रतीक्षामें खड़े हैं। उनका हृदय भगवान्‌की भक्तवत्सलता देखकर पिघला जा रहा है। आँखें एकटक चरणोंपर लगी हैं। अर्जुन! धन्य हो। तुम्हारा भगवत्प्रेम धन्य है।

उहँ ! मन न जाने कहाँ-से-कहाँ चला आया । भगवान्का सम्मान तो वे ही लोग कर सकते हैं, जिन भाग्यवानोंपर कृपा करके उन्होंने अपने को प्रगट कर दिया है, जो उनकी अनूप रूपमाधुरीके रसिक हैं या जो उनके मधुर स्पर्शके अनुभवसे कृतकृत्य होते रहते हैं। हम उनका सम्मान क्या कर सकते हैं ? पर ऐसे भक्त भी कई हैं, जो भगवान्के सामने न रहनेपर भी उनका सम्मान करते रहते हैं। हाँ, भक्तराज इक्ष्वाकु ? इक्ष्वाकु तो भगवान्के बहुमानमें ही मग्न रहते थे उनका हृदय कितना शुद्ध था ? अहा ! सड़कसे टहलते हुए जा रहे हैं। परन्तु उनकी आँखें सुदूर चरते हुए एक काले हिरनपर लगी हैं। वह कृष्णसागर है । अहा कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण, कितना मधुर नाम है ? मेरे कृष्ण ! आओ, आओ एक बार प्रेमभरी चितवनसे मेरी ओर देखकर धीरेसे मुस्कुरा दो। कहाँ, तालाबमें पानी पीने जा रहे हो ? नहीं, मेरे हाथसे पानी पी लो । न मानोगे ? अच्छा चलो तुम्हारे साथ मैं भी चलूँ । आह ! कितना सुन्दर तालाब है । कमल खिले हुए हैं। कमल, कमल, आह ! कमलनयन ! प्रभो ! कहाँ छिपे हो ? आकाश ! आकाशमें हो ? अवश्य तुम्हारा साँवरा सलोना शरीर नीले आकाशमें चमक रहा है। अरे, क्या तुम प्रकट होगये ? मेघश्याम ! इसे मेघ कौन कहता है ? तुम आकाशमें प्रकट होकर ललचा रहे हो। आओ, मेरे पास आ जाओ । मेरा गला रुँधा जा रहा है । अब चेतना नष्ट-सी हो रही है । श्यामसुन्दर ? प्राणवल्लभ ! हा नाथ !

भक्तराज इक्ष्वाकु जमीनपर क्या गिरे, मैं ही उस लोकसे गिर गया । ऐसा सौभाग्य किसका है ? इस प्रकार भगवान्का सर्वत्र सम्मान कौन कर सकता है ? नामदेव सरीखे विरले ही महात्मा होते हैं, जो रोटी ले जाने वाले कुत्तेको भी भगवान् समझकर उन्हें घी खिलाने दौड़ पड़ते हैं। अरे, महाप्रभु चैतन्यदेव तो समुद्र की नीलिमा देखकर अपने नीलोज्ज्वल प्यारे श्यामसुन्दरकी स्मृतिमें इस प्रकार तन्मय थे,

गये कि कूद ही पड़े। उनके हृदयमें कितनी प्रीति थी ? हाँ, प्रीति बिना प्रीतिके ऐसे भाव नहीं हो सकते। तब प्रीतिकी राजधानीमें कैसे प्रवेश हो ? बड़ी जटिल समस्या है। विदुरकी प्रीति, हाँ, विदुरकी प्रीति तो अपूर्व ही है। विदुरानी स्नान कर रही थीं। एक साड़ी शरीरमें लपेटकर आ गयीं। एक मामूली-सा आसन रख दिया। अर्घ्य-पाद्य, स्वागत-सत्कार और पैर धोना तो भूल ही गयीं। लगीं केले खिलाने। उनकी आँखें लग गयीं श्रीकृष्णकी सौन्दर्य-राशिमें। मन छक गया प्रेमामृतकी धारामें स्नान करके। हाँ, उनके हाथ अवश्य ही लगातार केलोंके छीलनेमें व्यस्त हो रहे हैं। श्रीकृष्ण, श्रीकृष्ण तो बिना देखे ही मुँहमें डालते जा रहे हैं। विदुरानी! क्या तुम पगली हो रही हो? नहीं नहीं पागल तो श्रीकृष्ण ही हो रहे हैं। ये विदुरानीकी प्रीतिधारामें स्वयं बहे जा रहे हैं। पता नहीं कि मैं केला खा रहा हूँ या उसके छिलके। ठीक है, अब विदुरजी आ गये। ये अवश्य रोक देंगे। परन्तु अरे, ये, ये तो चुपचाप खड़े हैं। क्यों विदुरजी! आप मना क्यों नहीं करते? अरे, आपकी आँखोंसे आँसू बह रहे हैं। क्यों? भगवान्‌की भक्तवत्सलता देखकर मुग्ध हो गये हो? मेरी बात सुनते भी नहीं। अच्छा? आपकी चेतना लुप्त होती जा रही है? नहीं-नहीं गिरिये मत। मैं पकड़ लेता हूँ।

मैं विदुरजीको गिरनेसे बचाने दौड़ा, परन्तु दौड़ते ही विदुरजी लापता हो गये। कैसी प्रीति है? क्या कभी हम भी ऐसी प्रीति प्राप्त कर सकेंगे? प्रीति अर्थात् भगवान्‌के सान्निध्यमें ही तृप्ति। परन्तु उनका सान्निध्य हो कैसे? हम उनके विरहका अनुभव ही कब करते हैं? क्या हमारे हृदयमें उनके लिये सच्ची छटपटी है? ना, हमारा मन तो विषयलोलुप है। अनेकों प्रकारके उसमें विकार भरे हैं। विरह, सच्चा विरह प्राप्त हो जाय तो भगवान् दूर हीं क्यों रहें? विरह की मूर्ति गोपियाँ, हाँ, गोपियोंके पाससे भगवान् जाकर भी न गये। उनके सच्चे

विरहने उन्हें रोक लिया। अक्रूरने दोनों भाइयोंको रथपर बैठा लिया। माँ की हिचकी बंध रही है, परन्तु पतिदेवकी आज्ञा और कन्हैयाके हठके कारण वे बोल नहीं सकतीं। नन्दबाबा और ग्वाल-बाल तो साथ जानेकी तैयारीमें ही लग हैं। तैयार होकर जानेके लिये खड़े हैं। परन्तु गोपियाँ, आह ! गोपियाँ न तो जा सकती हैं और न रह ही सकती हैं। क्या करें ? उनके प्राण तड़फड़ा रहे हैं। वे लोक-लाज और गुरुजनोंकी परवाह छोड़कर दौड़ी आ रही हैं। उन्हें रोकनेवाला भी तो कोई नहीं है। यदि हो भी तो कोई क्या रोक सकता है ? हाँ, तो आ गयीं, घोड़ोंकी बाग पकड़ ली, रथको रोक लिया, कई अनजानमें ही मूर्च्छित होकर सामने ही गिर पड़ीं और अब रथ नहीं चल सकता। परन्तु जब गोपियोंकी यह विरहदशा देखकर रथ नहीं चल सकता तो भला कृष्ण क्या जायँगे ? यह लो देखो, गोपियोंसे कह रहे हैं—'गोपियो ! तुम क्यों घबड़ा रही हो ? भला मैं तुम लोगोंको छोड़कर कभी जा सकता हूँ ? दुष्टोंका दमन तो मेरे अवतारका गौण प्रयोजन है। मैं तुम्हारे पास रहूँगा। मेरा एक प्रकाश मथुरा जायगा और वहाँका कार्य पूरा होगा।' हाँ, श्रीकृष्ण सभी गोपियोंके साथ अलग-अलग जा रहे हैं, उनके घरको। और अक्रूरका रथ मथुराकी ओर चला।

अरे, मै तो रथकी घरघराहटसे घबराहट में पड़ गया। भगवान् कितने भक्तवत्सल हैं ? अपने सच्चे प्रेमियों को कभी एक क्षणके लिये भी नहीं छोड़ते. अपने विरहके कारण किसीको दुःखी नहीं देख सकते। परन्तु उनका विरह कैसे प्राप्त हो ? हमारा काम तो अभी उनके बिना भी चल रहा है। प्रत्युत हम उनके बिना भी दूसरी वस्तुओंमें सुख मानते हैं। विरह तो तभी प्राप्त हो सकता है, जब उनके अतिरिक्त समस्त दूसरी वस्तुओंकी इच्छा न रहे। इसीका नाम इतरविचिकित्सा है। वह दिन कब होगा जब हमारे जीवनमें यह प्रतिष्ठित हो जायगी ? आह ! उस भाग्यवान् उपमन्युके जीवनमें

कितनी निष्ठा थी ? वह शंकरके दर्शनके लिये तपस्या कर रहे थे। स्वयं शंकर ही उनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर संसारमें उनकी इष्टनिष्ठा प्रकट करनेके लिये इन्द्रके वेषमें एरावतपर सवार होकर पधारे। उन्होंने बड़ा फुसलाया, प्रलोभन दिया, परन्तु उपमन्युने बड़ी दृढ़ताके साथ कहा—'इन्द्र ! मैं शंकरकी आज्ञासे कीड़ा और पतंगा होनेके लिये तैयार हूँ, परन्तु तुम्हारे दिये हुए त्रैलोक्यके राज्यको भी नहीं लेना चाहता।' कितने जोरदार शब्द हैं ! बार-बार स्मरण करें—

"अपि कीटः पतङ्गो वा भवेयं शङ्कराज्ञया।
न तु शक्र त्वया दत्त त्रैलोक्यमपि कामये॥"

शंकर भी कितने दयालु हैं ! इनका नाम ही औढरदानी है। आशुतोष ! शंकर ! यह क्या ? तुम इन्द्रसे शंकरके रूपमें प्रकट हो गये। ऐरावतसे बैल बन गया। अपने भक्तको पुचकारकर वर माँगनेकी प्रेरणा कर रहे हो। नहीं-नहीं, उपमन्यु तो तुम्हारे चरणोंमें ही रहेगा। यह प्रलोभनमें थोड़े ही आ सकता है ? उपमन्यु ! आज तुमने शिवको प्राप्त कर लिया है। देखो, शिवने सर्वदाके लिये तुम्हें अपना बना लिया है। अब तुम शान्ति-सुखके साथ उनके प्रेममें छके रहो।

शंकरके प्रस्थान करते ही मैं भी इस लोकमें पहुँच आया, परन्तु उपमन्युकी निष्ठा अभी प्रत्यक्ष-सी दीख रही है। क्या कभी ऐसी दृढ़ निष्ठा हमें भी मिलेगी। अपनी ओर देखनेपर तो विश्वास नहीं होता। वे ही प्रभु कृपा करके अपना लें तो हो सकता है। उनकी कृपा अपार है, उनकी महिमा अनन्त है। हाँ, उनकी महिमा भी विलक्षण ही है। जिसे उसका चसका लग गया फिर वह उसे छोड़ ही नहीं सकता। शेषनाग हजारों मुखसे गायन करते रहते हैं, देवर्षि

नारदकी वीणा उसी मधुर स्वरके आलापमें सलग्न रहती है, व्यासके निरन्तर कीर्तनका अन्त ही नहीं और शुकदेव तो निर्गुण समाधि तक का त्याग करके इसीका रसास्वादन करते रहते हैं। एक ओर पापी लोग नरकमें पड़े कराहते रहते हैं, दूसरी ओर भागवतके तत्त्ववेत्ता धर्मराज उनके पास जा-जाकर उन्हें भगवान्की महिमा सुनाया करते हैं। जहाँ भगवान्की महिमा का वर्णन होता है वहाँ वे स्वय उपस्थित रहते हैं। तब तो हमें भी उनकी महिमख्यातिमें लग जाना चाहिये। हम तो कुछ जानते नहीं, कैसे करें ? जानते नहीं तो क्या हुआ ? जो प्राचीन ऋषियोंने किया है, उसे ही पढ, उसीका स्वाध्याय करें, जो नहीं पढ सकते उन्हें सुनायें। उपनिषद्, गीता, भागवत, रामायण आदि क्या हैं ? भगवान्की महिमा ही तो हैं। तब इन्हीको पढ़ा जाय, सुना जाय।

हाँ, सुननेकी बात तो बड़ी अच्छी है। हनुमान्ने तो कथा-श्रवणके लिये ही अपनेको इस लोकमें रख छोड़ा है। उस समय बड़ा करुणापूर्ण दृश्य था। भगवान् राम अपनी प्रकट लीलाका सवरण कर रहे थे। भला, कौन ऐसा होगा जो उनके बिना जीवित रहना चाहेगा ? सभी पुरजन-परिजन उनके साथ जा रहे थे। हनुमान्, आह हनुमान् !! वे तो प्रभुकी इच्छाके यन्त्र ठहरे। उन्हें तो भगवान् की कथा चाहिये। यही एकमात्र विरहियोंका सजीवन है। उन्होंने कह दिया-'प्रभो ! मैं रहूँगा और तबतक तुम्हारी आज्ञाका पालन करनेके लिये रहूँगा, जबतक इस लोकमें आपकी लोकपावनी कीर्तिका कथा-कीर्तन होता रहेगा। कितने सुन्दर शब्द हैं—

"यावत्तव कथा लोके विचरिष्यति पावनी।
तावत्स्थास्यामि मेदिन्या तवाज्ञामनुपालयन्॥"

इसीको तदर्थप्राणस्थान कहते हैं। केवल भगवान्की आज्ञाका पालन करनेके लिये और सर्वात्मना उन्हींका होकर रहने के लिये ही

जीवित रहना तदर्थप्राणस्थान है । हनुमान ! सचमुच हनुमान् ही इसके सच्चे उदाहरण हैं ।

"यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।"

केवल वही है । क्या कभी हमारा जीवन भी ऐसा हो सकता है ? सर्वदा सन्तोंके मुखसे भगवान्‌का लीलामृत पान करके मस्त रहें । परन्तु इसके लिये निर्भरता चाहिये, सब कुछ और स्वयं मैं भगवान्‌का हूँ, इस भावपर पूर्ण निष्ठा होनी चाहिये । जबतक 'मैं-मेरा, तू-तेरा' का बखेड़ा लगा रहेगा, तबतक हम चिन्ताओंसे कैसे मुक्त हो सकते हैं ? बिना चिन्ताओंसे मुक्त हुए मस्तीके दर्शन कहाँ ? इसके लिये महाभारतके उस वसुकी भाँति होना होगा—

"आत्मराज्यं धनञ्चैव कलत्रं वाहनं तथा ।
एतद्भागवतं सर्वमिति तत्प्रेक्षते सदा ॥"

सचमुच यह सब भगवान्‌का है ही । समर्पणका कर्तृत्व नहीं लेना है । बस, यह जान लेना है कि सब भगवान्‌का है । समर्पण केवल क्रिया ही नहीं, वास्तवमें ज्ञान है । ज्ञान बिना सच्चा समर्पण नहीं हो सकता । इस ज्ञानपर परिनिष्ठित हो जानेपर फिर और क्या करना है ? भगवान्‌के स्मरणसे तन्मय रहें, सारे जगत्‌को भूल जायँ फिर तो सर्वतद्भाव स्वतः ही हो जाय । अहा ! प्रह्लादका कितना ऊँचा सवभाव था ? वे 'वासुदेवः सर्वमिति' की भावनामें सर्वदा लीन रहते थे। उन्हें भगवान्‌के अतिरिक्त और किसी वस्तुकी प्रतीति ही नहीं होती थी । पर्वतपरसे जमीन पर गिरा दिये गये । उफ, अब इनकी एक-एक हड्डी चूर-चूर होनेवाली है। परन्तु प्रह्लाद तो मुस्करा रहे हैं। उनके मुँहपर जरा भी विषादकी छाया नहीं है। क्यों प्रह्लाद! तुम्हारी प्रसन्नताका क्या कारण है? यही सोच रहे हो न कि मेरे प्रभु ही दयामयी पृथ्वी माँके रूपमें हैं। भल

उनकी गोदीमें गिरकर मैं दुःखी हो सकता हूँ? प्रह्लाद तुम्हारा सोचना ही ठीक है। क्योंकि मैं देख रहा हूँ, वे तुम्हें गोदमें ले लेने के लिये आँचल पसारे माँके रूपमें नीचे खड़े हैं। परन्तु तुम्हारे मनमें तो उन गिरानेवालोंके प्रति भी दुर्भाव नहीं है। अरे, तुम तो उन्हें भी भगवान् के रूपमें ही देख रहे हो ? धन्य हो तुम और धन्य है तुम्हारा सर्वभाव! क्या कभी ऐसा शुभ अवसर प्राप्त होगा जब हम तुम्हारे इस सर्वभावको लेशमात्र भी पा सकेंगे ? कैसे आनेकी और पानेकी आशा की जाय, हमारे मनमें तो प्रतिकूलता भरी पड़ी है। किसी भी भीषणसे भीषण रूपमें भगवान् हमारे सामने आवें और हम उन्हें पहचान जायँ तब तो हम सर्वत्र, सर्वदा, और सर्वथा उनका दर्शन कर सकेंगे। अप्रातिकूल्यभाव! सचमुच तुम्हारा सच्चा प्रकाश तो भीष्ममें ही हुआ था।

उस दिनकी बात है भीष्मके तीखे बाणोंसे घायल होकर अर्जुन बेहोश हो गया, घोड़े गिर गये। केवल श्रीकृष्ण थे और वे शस्त्र न उठानेकी प्रतिज्ञासे बँध हुए थे। परन्तु भक्तकी प्रतिज्ञाके सामने भगवान्को अपनी प्रतिज्ञा शिथिल करनी पड़ती है। वैसा ही हुआ भी। श्रीकृष्णने एक रथका पहिया उठा ही लिया। जब वे दौड़े फिर क्या था, भीष्मका हृदय भगवान्की भक्तवत्सलताका स्मरण करके गद्गद हो गया, वे बोल उठे—

'आइये, प्रभो आइये? मैं इस शस्त्रधारीके वेशमें आपको देखकर नमस्कार करता हूँ। मुझे मार डालिये, बेशक मार डालिये। मैं खूब पहचानता हूँ। भला, मृत्युके रूपमें आपको देखकर मैं भयभीत थोड़े ही हो सकता हूँ।'

हाँ, भीष्म प्रसन्नतासे मरनेके लिये आग बढ़ रहे हैं। क्यों न बढ़, प्रियतमके हाथोंकी मार दुलारसे बढ़कर होती ही है। परन्तु प्रभो? क्या तुम सचमुच भीष्मको मारोगे? हाँ, भीष्म तो यही चाहते हैं। परन्तु तुम? तुम्हारे हाथमें तो चक्र सट सा गया है। बड़े जोरसे पैर उठाते हो, पर हो वहीं के वहीं। तब अर्जुनको होशमें लाकर अपने शरीरसे दौड़कर उसको पकड़ लो, और क्या करोगे? इन प्रेमियोंके आग तुम्हारा क्या चारा है? प्यारके बँधे दामोदर? बँधे रहा इनके प्रेमपाशमें। इसीमें आनन्द आता है न?

भगवत्प्रेम और भगवत्प्रेमी

"प्रिय वत्स ! मेरे गौरवके कारण तुम मेरा भयमिश्रित आदर मत करो, यह मुझे प्रिय नहीं है। तुम्हें मेरा स्वतन्त्र प्रेमी होना चाहिये। यद्यपि मैं पूर्णकाम हूँ, मेरे लिए कुछ भी अपेक्षित नहीं है, तथापि जब मेरा प्रेमी भक्त अपने निःशंक प्रेमसे मुझे निहारता है या मुझसे प्रेमालाप करता है—तब उसका वह व्यवहार मुझे नित्य नूतन और अत्यन्त प्रिय लगता है। मैं नित्यमुक्त होनेपर भी अपने प्रेमी भक्तोंके द्वारा प्रेमपाश में बाँध लिया गया हूँ, अपराजित होने पर भी उनसे हार गया हूँ, और स्वाधीन होनेपर भी उनके अधीन हो गया हूँ। जो संसार और सगे-सम्बन्धियोंका स्नेह छोड़कर मुझसे निःशंक प्रेम करता है, उसका अकेला मैं हूँ और वह अकेला मेरा। न उसका कोई दूसरा प्रिय है और न मेरा कोई दूसरा प्रिय है।" यह है भगवान्‌की वाणी प्रह्लादके प्रति।*

---

* सभयं सम्भ्रमं वत्स मद्गौरवकृतं त्यज।
नैष प्रियो मे भक्तेषु स्वाधीनप्रणयी भव॥
अपि मे पूर्णकामस्य नवं नवमिदं प्रियम्।
निःशंकप्रणयाद्भक्तो यन्मां पश्यति भाषते॥
सदा मुक्तोऽस्मि बद्धोऽस्मि भक्तेषु स्नेहरज्जुभिः।
अजितोऽपि जितोऽहं तैरवश्योऽपि वशीकृतः॥
त्यक्तबन्धुजनस्नेहो मयि यः कुरुते रतिम्।
एकस्तस्यास्मि स च मे न चान्योऽस्त्यावयोः सुहृद्॥
—हरिभक्ति सुधोदय

भक्तके हृदयमें विराजमान यह निःशंक प्रीति क्या वस्तु है जिससे स्वतन्त्र आनन्दस्वरूप स्वयं भगवान् मुकुन्द भी पराधीन हो जाते हैं और दिव्य प्रेमोन्मादके वशीभूत हो जाते हैं? श्रुति भगवती कहती हैं—"भक्ति ही भगवान्को पकड़ लाती है, भक्ति ही उनका दर्शन कराती है। भगवान् भक्ति के वश में हैं, और भक्ति ही सबसे बड़ी वस्तु है।" इसलिये अपने आनन्दके द्वारा परमानन्दको भी उन्मद बनाने वाली इस भक्तिका स्वरूप क्या है?

साङ्ख्यवादी ऐसा मानते हैं कि प्राकृत सत्त्वगुणमें जो मायिक आनन्द है, वही प्रीतिमयी भक्ति है। परन्तु स्वयं अप्राकृत परमानन्दघन भगवान् जो कि अपने आनन्दमें नित्यतृप्त हैं क्या इस मायिक और गौण आनन्द के वशीभूत हो सकते हैं? सर्वथा असम्भव है। निर्विशेष ब्रह्मवादी वेदान्ती कहते हैं कि यह प्रीतिमयी भक्ति भगवान्का स्वरूपभूत आनन्द ही है। परन्तु अपने स्वरूपभूत आनन्दमें कोई विशेषता, अधिकता न होनेके कारण उसमें भी भगवान्के वशीकरण और उन्मादनका सामर्थ्य सम्भव नहीं है। तब क्या यह जीवका ही स्वरूपानन्द है? राम कहो, वह तो अत्यन्त क्षुद्र है। तब यह भगवत्प्रेम, प्रीति या भक्ति क्या वस्तु है? गम्भीरतासे विचार करनेपर प्रतीत होता है कि इस प्रेममयी भक्तिका सम्बन्ध प्राकृत गुणमयी वृत्तियोंसे, निर्विशेष ब्रह्मानन्दसे अथवा प्रत्यक्चैतन्यमें स्वरूपसे विराजमान आनन्दके साथ नहीं है। यह तो भगवान्की ही कोई अचिन्त्य चमत्कारिणी विशेष शक्ति है जिसके अधीन वे भी हो जाते हैं। प्रकृति भगवान्की बहिरङ्गशक्ति है, जीव तटस्थशक्ति है और सच्चिदानन्द स्वरूपशक्ति है। सत्को सन्धिनी, चित्को संवित् एवं आनन्दशक्तिको ही भक्तिशास्त्रमें आह्लादिनी शक्ति कहते हैं। यह स्वरूप नहीं, स्वरूप-शक्ति है। इसी शक्तिसे भगवान्, जगत् और जीवकी अपेक्षा विशेष हैं। यही शक्ति जगत् और जीवमें आनन्दका सञ्चार करती है, और

भगवान्को भी आनन्दित करती है। ठीक है, परन्तु अभी मुख्य प्रश्नका समाधान नहीं हुआ, क्योंकि यह आह्लादिनी शक्ति भी तो सर्वदा भगवान्में ही विराजमान रहती है, तब इसमें भी ऐसी विशेषता कैसे हो सकती है कि यह अपने आश्रयको ही अपने अधीन बनाले, परन्तु यह बात श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणमें शतशः कही गयी है कि भगवान् भक्तिके अधीन हैं। इसकी दूसरी कोई भी सङ्गति नहीं लग सकती और इसका परम तात्पर्य भी इसीमें है कि भगवान्की आह्लादिनी शक्तिमें भी अनेकों वृत्तियाँ हैं। और उसमें सवानन्दातिशायिनी कोई ऐसी विलक्षण वृत्ति है जिसे भगवान् अपने भक्तके हृदयमें स्थापित कर देते हैं और उसके विलासको देख देख कर स्वयं आनन्दित होते हैं और अपने आपको भूल जाते हैं। श्रीमद्भागवत आदिमें ऐसे अनेकों प्रसङ्ग हैं जिनमें भगवान् की आँखोंसे आँसू गिरते हैं, वे स्वयं आत्मविस्मृत, विह्वल और दिव्योन्माद दशाको प्राप्त हो जाते हैं। सच्चिदानन्द भगवान्को भी ऐसे दिव्य आनन्दका आस्वादन कराने वाली जो भगवान्की स्वरूपशक्तिभूत, जीवके हृदयमें विराजमान, भगवत्प्रदत्त उल्लासमयी वृत्ति है उसीको प्रीति, प्रेम अथवा भक्ति कहते हैं।

व्याकरणके अनुसार 'प्रीति' और 'प्रेम' शब्द प्रायः पर्यायवाची हैं। प्रत्ययका भेद है, धातुका नहीं। तृप्त होने और तृप्त करनेके अर्थमें विद्यमान अकर्मक और सकर्मक दोनों ही प्रकारके 'प्री' धातुओं से 'प्रीति' और 'प्रिय' शब्द बनते हैं, और 'प्रिय' शब्दसे भावमें प्रत्यय करनेसे 'प्रेम' शब्द बनता है। मोद, प्रमोद, हर्ष, आनन्द, भाव हार्द, सौहृद, तृप्ति, सुख आदिके अर्थमें प्रीति शब्दका प्रयोग होता है, फिर भी प्रीति और सुख शब्दके अर्थमें अन्तर है। उल्लासात्मक ज्ञानविशेषको सुख कहते हैं, परन्तु प्रीति इस सुखसे विलक्षण है। प्रीतिमें यह आवश्यक है कि जिससे प्रीति हो उसकी अनुकूलता बना रहे। उसकी

प्राप्तिकी लालसा अनुभवमें भी अनुकूलताका होना अनिवार्य है। इसलिये प्रीतिके सुखस्वरूप होनेपर भी उसमें प्रियतमकी अनुकूलता और अनुकूलतासे अनुगत स्पृहा एव अनुभवकी विशेषता है। सुखका विरोधी दुःख है, प्रीतिका विरोधी द्वेष है, दुःख नहीं। इसलिये सुखका आश्रय होता है, विषय नहीं। परन्तु प्रीतिके आश्रय और विषय दोनों ही होते हैं। जिसमें प्रेम है वह आश्रय और जिससे प्रेम है वह विषय है। दुःख और द्वेषके सम्बन्धमें भी इसी प्रकार समझना चाहिये, परन्तु प्रीतिकी एक और विशेषता है, वह सविषयक ही नहीं निर्विषयक भी होता है। क्र्यादिगणमें पठित 'प्री' धातु अकर्मक है। यह ज्ञान विशेष होनेपर भी 'चेतति' आदिके समान निर्विषय एव स्वयप्रकाश भी है। इसीसे आत्मरति, आत्मप्रीति आदिमें प्रीति शब्दका स्वतःसिद्ध स्वप्रकाश अर्थमें भी व्यवहार होता है।

जब भक्तके हृदयमें भगवद्रतिका उदय होता है, तब उसमें एक अभूतपूर्व उल्लासका प्रकाश जगमगाने लगता है और अपने प्रियतमके प्रति ममताका सयोग होता है, विश्वासकी वृद्धि होती है, अतिशय प्रियताका अभिमान उदय होता है, द्रवता आती है, अपने प्रियतमके प्रति उत्कट लालसा रहने लगती है, क्षण-क्षण अपने प्रियतममें नव-नव सौन्दर्य, माधुर्य, सौशील्य, वात्सल्य आदि गुणोंका अनुभव होने लगता है और निरतिशय तथा अतुलनीय चमत्कारके कारण दिव्योन्मादकी दशा ... [illegible] ... ती है। ... [illegible] ... उल्लासात्मिका रतिरूपा प्रीतिके ही ... [illegible] ... जिन्हें ... [illegible] ... भिन्न-भिन्न नामोंसे वर्णन किया है ... [illegible] ... नि ही प्रेम, प्रणय, मान, स्नेह, राग ... [illegible] ... है। प्रीतिकी उस अ ... [illegible] ... ोती है, किन्तु ... [illegible]

प्राप्तिकी लालसा अनुभवमें भी अनुकूलताका होना अनिवार्य है। इसलिये प्रीतिके सुखस्वरूप होनेपर भी उसमें प्रियतमकी अनुकूलता और अनुकूलतासे अनुगत स्पृहा एवं अनुभवकी विशेषता है। सुखका विरोधी दुःख है, प्रीतिका विरोधी द्वेष है, दुःख नहीं। इसलिये सुखका आश्रय होता है, विषय नहीं। परन्तु प्रीतिके आश्रय और विषय दोनों ही होते हैं। जिसमें प्रेम है वह आश्रय और जिससे प्रेम है वह विषय है। दुःख और द्वेषके सम्बन्धमें भी इसी प्रकार समझना चाहिये, परन्तु प्रीतिकी एक और विशेषता है, वह सविषयक ही नहीं निर्विषयक भी होता है। क्र्यादिगणमें पठित 'प्री' धातु अकर्मक है। यह ज्ञान विशेष होनेपर भी 'चेतति' आदिके समान निर्विषय एवं स्वयप्रकाश भी है। इसीसे आत्मरति, आत्मप्रीति आदिमें प्रीति शब्दका स्वतःसिद्ध स्वप्रकाश अर्थमें भी व्यवहार होता है।

जब भक्तके हृदयमें भगवद्रतिका उदय होता है, तब उसमें एक अभूतपूर्व उल्लासका प्रकाश जगमगाने लगता है और अपने प्रियतमके प्रति ममताका सयोग होता है, विश्वासकी वृद्धि होती है, अतिशय प्रियताका अभिमान उदय होता है, द्रवता आती है, अपने प्रियतमके प्रति उत्कट लालसा रहने लगती है, क्षण-क्षण अपने प्रियतममें नव-नव सौन्दर्य, माधुर्य, सौशील्य, वात्सल्य आदि गुणोंका अनुभव होने लगता है और निरतिशय तथा अतुलनीय चमत्कारके कारण दिव्योन्मादकी दशा रहने लगती है। यह चित्तकी उल्लासात्मिका गतिरूपा प्रीतिके ही विलास हैं जिन्हें रसिकजनोंने भिन्न-भिन्न नामोंसे वर्णन किया है। वे कहते हैं कि यह दृढ़ रति ही प्रेम, प्रणय, मान, स्नेह, राग, अनुराग और भावका रूप ग्रहण करती है।

प्रीतिकी उस अवस्थाको जिसमें केवल उल्लासकी अधिकता ही प्रकट होती है, किन्तु ममता नहीं होती, जैसे चन्द्रमाके दर्शनमें उल्लास है, रुचि है, सुख भी है, किन्तु ममता नहीं है-इदरति कहते हैं, यही

रसका स्थायी भाव होता है। जब भक्तके चित्तमें अनेक जन्मोंके पुण्यपरिपाकसे, सत्सगसे और भगवत्कृपासे इस रतिका उदय होता है तब जीवनके सारे व्यवहार उसी एकके लिए होने लगते हैं और दूसरी बातें तुच्छ सी जान पड़ती हैं। अपने प्रियतमके अतिरिक्त और कहीं भी महत्त्वबुद्धि नहीं रहती। आगे चलकर ममताका आविर्भाव होता है। समृद्ध और सम्पन्न ममताकी अधिकता ही प्रेम है। जब भक्तके चित्तमें प्रेमका उदय होता है तब कोई भी लौकिक या अलौकिक कारण प्रेमके स्वरूप और प्रयत्नकी हानि अथवा ह्रास करनेमें समर्थ नहीं होते। प्रेमके नाश और ह्रासका बड़े से बड़ा कारण उपस्थित होनेपर भी उसका विकास और प्रकाश ही होता है। इसीसे भक्ति-शास्त्रमें अपने प्रियतमके प्रति अतिशय ममताको ही भक्ति कहते हैं। पाञ्चरात्रमें कहा गया है कि प्रीतियुक्त अनन्य ममता ही भक्ति है। अनन्यका अर्थ है अपने प्रियतमके अतिरिक्त अन्य किसीसे ममताका न होना। प्रेमके तीन प्रकार होते हैं—मन्द, मध्यम और प्रौढ़। मन्द प्रेममें सेवाकी विस्मृति हो जाती है, जैसे एक सखी पछता रही थी—'हाय! हाय!! आज अपने विरुद्ध रहने वाली गोपीका ईर्ष्यापूर्ण मनोराज्य होने के कारण, मैं अपने प्राण प्यारे श्यामसुन्दरके लिये माला नहीं गूथ सकी, अब क्या करूँ? गौओंका हम्बारव सुनाई पड़ रहा है, वे इधर से आने ही वाले हैं।"

मध्यम प्रेममें वियोगका समय बड़े कष्टसे बीतता है। एक गोपी अपनी सखीसे कहती है—"सच-सच बता सखी, क्या यह लम्बा दिन शीघ्र बीत जायगा और मङ्गलमयी सन्ध्या मैं देख सकूँगी, क्योंकि उसी समय गोधूलि-धूसरित कुञ्चितकेश मन्दस्मित मुखारविन्द नन्दनन्दन हमारे नेत्रोंकी व्यथा हरण करते हैं।"

प्रौढ़ प्रेममें वियोग सर्वथा ही सहन नहीं होता। एक गोपी अपनी सखीसे कहती है—"अरी वीर! तू मुझे बार-बार मान

निभानेकी सीख देती है, तो प्राणप्यारेका एक चित्रपट भी मुझे दे दे, मैं अपने कान बन्द करके उसे आँचलसे छिपा रखूँगी और उसे देख-देख कर दो घड़ी तक मानवती बनी रहूँगी।" यही प्रेम जब और भी बढ़ता है—और प्रतिक्षण बढ़ना प्रेमका स्वभाव है, तब उसमें विश्वासकी पराकाष्ठा अपने आप ही आ जाती है। प्रेमकी इस दशाका नाम प्रणय है। प्रणयकी यह विशेषता है कि उसके उदय होनेपर अपने प्रियतममें गौरव, आदर, सम्भ्रम आदिकी पात्रता होनेपर भी ये सब शिष्टाचार समाप्त हो जाते हैं। यही प्रणय आगे चलकर मान बनता है। मेरा प्रियतम मुझसे बहुत प्रेम करता है, मैं अपने प्यारेका प्रेमास्पद हूँ—इस प्रणयाभिमानके कारण भावमें एक ऐसी विचित्रता आजाती है कि कभी कभी तो दूसरोंको ऐसा लगता है मानो प्रेमी कुटिलताका बर्ताव कर रहा है। परन्तु उस प्रतीयमान कुटिलतामें भी इतना विश्वास, इतनी प्रियता और इतना हित होता है कि उसका किसी प्रकार निरूपण नहीं किया जा सकता। इस मानके उदय होने-पर और तो क्या स्वयं भगवान् आनन्दमुकुन्द भी अपने प्रेमीके प्रणयकोपसे—प्रेममय भयसे आक्रान्त हो जाते हैं। पूर्वोक्त प्रेम ही चित्तकी अतिशय द्रवावस्थामें स्नेह हो जाता है। इस स्नेहमें अपने प्रियतम और उनसे सम्बद्ध अन्य पदार्थोंका आभासमात्र प्राप्त होनेपर भी शरीर और चित्तमें कम्प, अश्रु आदि सात्त्विक विकारोंका उदय हो जाता है। अपने प्यारेके दर्शन, स्पर्श आदिसे अतृप्ति हो जाती है और अपने प्रेमास्पदमें परमैश्वर्य एवं परम सामर्थ्य रहनेपर भी किसी-किसीको अनिष्टकी आशंका होने लगती है। स्नेह दो प्रकारका होता है—घृतस्नेह और मधुस्नेह।

जिस स्नेहमें आदरका भाव मिश्रित रहता है, दूसरे भावसे मिल कर स्वादिष्ट बनता है और पारस्परिक शीतलताका अनुभव करके घनीभूत होता है उसे घृतस्नेह कहते हैं। एक ऐसी गोपी है जिसको

दूरसे देखते ही श्रीकृष्ण उठ खड़े होते हैं और उसे हृदयसे लगाते हैं। उसके पवित्र प्रेमके वश रहते हैं जो उनसे कभी मान नहीं करती। जैसे पानीमें पड़ते ही ओला गल जाता है, वैसे ही वह हमेशा स्नेहसे तर रहती है। ऐसी कौन भाग्यवती है जिसके साथ उसकी उपमा दी जा सके?

जिस स्नेहमें अतिशय ममता प्रगट रहती है उसे मधुस्नेह कहते हैं। इसमें मधुरतापर कभी आवरण नहीं पड़ता। जैसे मधुमें भिन्न भिन्न पुष्पोंके रस होते हैं, वैसे ही इस स्नेहमें कौटिल्य, नर्म आदि भावोंका सम्बन्ध होता है। इसमें आनन्दकी मादकता और भावकी गर्मी भी रहती है। इस प्रकार इसमें मधुकी समानता है। श्रीकृष्ण अपने एक मित्रसे कहते हैं कि 'राधा सुधामयी प्रतिमा है कि माधुर्यसार स्नेहका कला-कौशल? अपने गुणोंसे नित्य वह घनीभूत रहती है, केवल भावकी ऊष्मासे ही द्रवित होती है। क्या बताऊँ मित्र, प्रसंगवश उसके नाम और धाम श्रवण करने मात्रसे ही मुझे सम्पूर्ण विश्व-सृष्टिका विस्मरण हो जाता है।'

स्नेहमें जब उत्कट लालसा-अभिलाषाका गहरा रंग उभरता—और चढ़ता है तब उसको राग कहते हैं। रागकी दशामें क्षणिक विरह भी अत्यन्त असह्य हो जाता है—पलकका गिरना भी नहीं सुहाता। अपने प्रियतमके संयोगमें बड़े से बड़ा दुःख भी सुख बन जाता है और अपने प्रियतमके वियोगमें बड़े से बड़ा सुख भी दुःख हो जाता है। यह राग भी प्रतिक्षण वर्धमान है। राग दो प्रकारका होता है—एक नीलिमा और दूसरा रक्तिमा। नीलिमा भी दो प्रकार की होती है—एक नीली राग और दूसरा श्यामा राग। नीली राग बहुत चमकता तो नहीं, पर कभी घुलता भी नहीं। श्यामा राग-पहले से बहुत अधिक चमकता है और धीरे धीरे औषधादिके मिश्रणसे साध्य बनता

है । रक्तिमा भी दो प्रकारकी होती है—एक कुसुम्भकी और दूसरा मञ्जिष्ठाकी । कुसुम्भ राग चित्त पटपर जल्दी चढ़ जाता, दूसरे राग रगोंकी शोभा बढ़ाता है और स्वयं भी शोभा पाता है। यद्यपि कपड़ेपर कौसुम्भ राग कच्चा ही होता है, परन्तु श्रीकृष्ण विषयक होनेपर यही पक्का होजाता है । माञ्जिष्ठराग जलादि निमित्त अथवा कालक्रममें नष्ट नहीं होता । सचारी भाव उसे विचलित नहीं कर सकते, श्याम रागके समान उसमें औषधिकी आवश्यकता नहीं है, स्वतःसिद्ध है । उसकी कान्ति हमेशा बढ़ती ही है, कौसुम्भ रागके समान घटती नहीं । श्रीराधा-माधवका अनुपम प्रेमरस बिना किसी उपाधिके ही प्रकट होता है । विजातीय भावका मिलन होनेपर भी कम नहीं होता । गुरुजनोंके द्वारा महाभय प्राप्त होनेपर भी रसकी वृद्धि और नवीन मार्ग दर्शन ही प्राप्त होता है । प्रतिदिन नवीन नवीन चमत्कार, निर्मर्याद आनन्द और समृद्धि-वृद्धि ही* होती रहती है । यही जब पल-पलमें अपने प्रेमास्पदको नये-नये रूपमें अनुभव कराने लगता है और स्वयं भी नवीन-नवीन रूपमें प्रकट होता है तब इसीको अनुराग कहते हैं ।

दो सखियोंका सम्वाद—

पहली—सखि ! यह कृष्ण कौन है ? इसका तो नाम सुनकर ही मनको रोकनेकी शक्ति भाग जाती है ।

दूसरी—अरा बावरी ! तू यह क्या पूछ रही है ? तू तो उसीके वक्ष-स्थलपर प्रति दिन क्रीड़ा करती है ।

पहली—वीर ! मेरी हँसी मत उड़ाओ ।

दूसरी—अरी मुग्धे ! अभी-अभी तो मैंने तुझे उसके हाथमें दिया था ।

पहली—ठीक-ठीक सखी, अभी अभी वह मेरी आँखोंके सामनेसे बिजलीकी तरह चमक गया है।

भक्तके जीवनमें अनुरागके उदय होनेपर प्रेमी और प्रेमास्पद दोनों परस्पर एक दूसरेके अत्यन्त वशीभूत हो जाते हैं। सयोगमें वियोग और वियोगमें भी सयोगका अनुभव होने लगता है। अपने प्रियतमसे सम्बन्धित स्थावर जातिमें जन्म लेनेकी लालसा होने लगती है। जैसे बाँसुरी बननेके लिये बाँस बननेकी अभिलाषा। वियोग होनेपर सर्वत्र अपने प्रियतमकी विविध रूपमें स्फूर्ति होने लगती है। प्रेमका यह स्वभाव ही है कि वह जिसके हृदयमें उदय होता है उसको तो पराधीन बना ही देता है, जिसके प्रति होता है, उसके अनुभवका भी विषय होकर उसको पराधीन बना देता है। इस अनुरागमें ऐसे ऐसे चमत्कार हैं कि उससे बड़ेकी तो चर्चा ही क्या, समानताका भी दूसरा कोई पदार्थ या भाव नहीं है। यही चमत्कार अनुरागीको दिव्य उन्मादसे भर देता है। इस दिव्य उन्मादको ही महाभाव कहते हैं।

महाभावकी यही अमृतमयी दशा अनुभावोंके अतिशय उद्दीप्त होनेपर रूढ और उससे भी कोई अनिर्वचनीय विशेषता प्राप्त होनेपर अधिरूढ नामसे कही जाती है। पार्वतीने शंकरसे प्रश्न किया—'राधा माधवके दिव्य प्रेममें क्या विशेषता है?'

शंकरने कहा—'अनन्तकोटि ब्रह्माण्डमें और उनसे परे भी अब तक जितने सुख-दुःख हुए हैं, और होंगे उनकी यदि अलग-अलग राशि बना ली जाय, तो वे दोनों राधिकाके प्रेममें उदय होने वाले सुख-दुःख समुद्रकी एक बूँदकी छाया भी नहीं बन सकते।'

इस महाभावके उदय होनेपर संयोगके समय भी पलकोंका गिरना असह्य हो जाता है। कल्प भी सुखकी अधिकतासे क्षण प्रतीत होता

है और वियोग की दशामें एक क्षण भी कल्पके समान हो जाता है। संयोग और वियोग दोनों ही दशामें सब-सब सात्विक लक्षण अत्यन्त उद्दीप्त रूपमें प्रगट होते हैं। प्रीतिके यही विलास कहीं भक्ति, कहीं प्रेम, कहीं स्नेह और कहीं भावके नामसे कहे जाते हैं।

अधिरूढ महाभाव दो प्रकारका है—मोदन और मादन। वियोगमें मोदनका स्थान मोहन ले लेता है। इसी मोहनमें दिव्योन्मादका उदय होता है। श्रीमद्भागवतका भ्रमरगीत इसी दिव्योन्माद दशाका विलास है। मादन सबसे परे है। यह सम्पूर्ण भावोंके उद्गम और उल्लासका स्थान है। और वह सर्वदा श्रीराधारानीमें ही रहता है, क्योंकि यही भगवान्‌की आह्लादिनी शक्तिका सार है।

अभी-अभी भगवत्प्रेमके जिन विलासोंकी चर्चा की गयी है वे जब किसी भक्तके हृदय में उदय होते हैं तब उसके चित्तको आमूल-चूल लौकिक विकारों और संस्कारोंसे मुक्त करके दिव्य बना देते हैं। यही प्रीति भगवान्‌के विशेष स्वभावके आविर्भावका संयोग प्राप्त कर भक्तके हृदयमें एक नवीन भक्ति-पोषक अभिमान उत्पन्न कर देती है। किसके हृदयमें किस प्रकारका भक्ति-पोषक अभिमान उदय हो इसकी भी कोई पद्धति होनी चाहिये। जिस भक्तको भगवान्‌के जिस प्रकारके प्रेमीका सत्सङ्ग प्राप्त होता है उस प्रेमीके प्रेमकी पद्धति ही भक्तके हृदयमें प्रकट होती है। प्रीति प्रकट होनेपर कोई अपनेको प्रभुका अनुग्रहभाजन और कोई अपनेको अनुकम्पापात्र मानने लगते हैं। कोई-कोई अपनेको मित्र मानते हैं तो कोई-कोई प्रिया। भगवान्‌के जो नित्यपरिकर हैं उनमें तो प्रीति और अभिमान दोनों ही नित्य होते हैं। भगवान्‌को अपना आराध्य जानना और मानना भक्तके लक्षणमें सम्मिलित है। परन्तु जब उसमें 'मैं उनका अनुग्रहभाजन हूँ'—यह अभिमान प्रकट होता है, तब उसे प्रीति कहते हैं। अनुग्रह दो

प्रकारका होता है—प्रथम 'पोपण' और द्वितीय 'अनुकम्पा'। भगवान् अपने स्वरूप और गुणोंके द्वारा भक्तोंको आनन्दित करते हैं इसका नाम पोपण है। स्वय परिपूर्ण होनेपर भी स्वय अपनेमें सेवाकी अभिलाषा स्वीकार करके अपने प्रेमी सेवका को सेवा आदिका सौभाग्य देना—उनका भला चाहना 'अनुकम्पा' है। यह भगवान्के चित्तकी कोमलता ही है जिससे वे भक्तको सुख पहुँचा कर स्वय सुखी होते हैं। इन अनुग्रह-भाजन अर्थात् पोपण अनुकम्पा-पात्र भक्तोंके दो प्रकार होते हैं-निर्मम और समम। ज्ञानीभक्त सनकादि यह तो अनुभव करते हैं कि भगवान् हमारे हृदयमें अपने परमात्मा और पर-ब्रह्मभाव भर कर हमे आनन्द देते हैं, परन्तु उनके हृदयमें ' न मामकीनस्त्व' यह ज्ञान भी बना रहता है। उन्हें भगवान्के दर्शनसे, सुगन्धसे बहुत आनन्द मिलता है। शरीर और चित्तमें सात्विक विकारोंका उदय भी होता है, वे विनय और स्तुतिका भाव भी रखते हैं। परन्तु उनकी प्रीति शान्ति-प्रधान है और ब्रह्मानन्द-स्वरूपसे परमात्माका अनुभव करते हैं। इसीको भक्ति शास्त्रमें शान्तरस कहा गया है। जिनके ऊपर भगवान्की अनुकम्पा, चित्तकी कोमलता प्रकट हुई है और जिन्हें भगवान्के सेवासुखका सौभाग्य मिलता है उनके हृदयमें-' यह हमारे प्रभु हैं '—इस भावसे ममताका उदय होजाता है। इसीसे भीष्म, उद्धव, प्रह्लाद अनन्य ममताको ही भक्ति कहते हैं। ममता प्रकाशित होनेके कारण ही वे अनुकम्पापात्र और उसके अभिमानी भी हैं। अनुकम्पा तीन प्रकारके भक्तोंमें प्रकट होती है-पाल्य, भृत्य और लाल्य। जैसे द्वारिकाकी प्रजा, दारुकादि सेवक और प्रद्युम्न आदि सम्बन्धी। इनकी प्रीति वस्तुत भक्तिके ही अन्तर्गत है। इनमें अनुकूलता अधिक होती है और ज्ञानादि आवृत रहता है। इसलिये इनमें प्रीतिकी प्रधानता है। पाल्योंमें आश्रय, भृत्योंमें दास्य और लाल्योंमें विनय भावनाकी प्रधानता

रहती है। भगवान्‌की जिस अनुकम्पासे जिनके हृदयमें 'मैं पुत्र हूँ,' 'मैं भाई हूँ' इस प्रकारका भक्तिपोषक अभिमान उदय होता है उनकी इस प्रीतिको वात्सल्य कहते हैं। लौकिक रसज्ञ महापुरुष भी इसीको वत्सलरस मानते हैं। वात्सल्यरस नन्द यशोदा आदिमें होता है। 'यह मेरे समान ही मधुर शील स्वभाव वाला है और मेरे निष्कपट प्रेमका विशेष आश्रय है'—इस भावसे मित्रत्वाभिमानमयी प्रीतिका नाम मैत्री है। दोनों मित्र परस्पर निष्कपट भावसे एक दूसरेके हितमें रस लेते हैं—इसको सौहृद कहते हैं। दोनों मित्र एक साथ परस्पर प्रेमपूर्वक आहार-विहार करते हैं—इसको सख्य कहते हैं। इसलिये मित्र भी दो प्रकारके होते हैं—एक सुहृद, दूसरे सखा। इनके भी कई अवान्तर भेद हैं। ये मेरे परम प्रेष्ठ कान्त हैं। इस प्रीतिको मधुर प्रीति कहते हैं। प्रियके भावको ही प्रियता, प्रेम और प्रीति कहते हैं। लौकिक रसिकोंने इसीको स्थायी भावरूप रति मान कर रसकी निष्पत्ति मानी है। यह कान्तभाव कामके समान होनेके कारण कहीं कहीं 'काम' शब्दसे भी कहा गया है। परन्तु प्रीति और काममें बहुत अन्तर होता है। काममें अपनी अनुकूलतासे विभिन्न इच्छाएँ होती हैं। परन्तु प्रीतिमें अपने प्रियतमकी अनुकूलतासे अनुगत स्पृहा और अनुभूति होती है। प्रीति तो एक प्रकारका ज्ञान ही है। कभी कभी अपने प्रियतमकी अनुकूलतामें भी अपने सुखकी वासना रहती है, इसलिये वह भी शुद्ध प्रीति नहीं है। शुद्ध प्रीतिमें अपना सुख भी प्रियतमको सुख पहुँचानेके लिए ही होता है। सुख और प्रीतिमें प्रियतमकी अनुकूलताका अंश ही उसकी विशेषता है। इसी प्रकार काम और प्रीति दोनोंमें इच्छा है। परन्तु प्रियतमकी अनुकूलता ही प्रीतिकी विशेषता है। इसीसे रासलीला आदिके प्रसंग कामवर्धक नहीं प्रीतिवर्धक हैं। जिनके श्रवण वर्णनसे ही कामका ह्रास और नाश हो जाता है उसमें कामकी गन्ध होना भी सम्भव नहीं।

एक गोपी कहती है, कि यद्यपि श्यामसुन्दरके दर्शनसे मुझे सुख बहुत मिलता है; परन्तु इससे यदि उनकी कोई रत्तीभर भी हानि होती हो तो वे मुझे कभी दर्शन न दें। मुझे जीवन भर घुल घुलकर मरना पसन्द है—परन्तु उनकी थोड़ी सी भी हानि पसन्द नहीं। श्रीमद्भागवतमें एक ऐसा प्रसङ्ग आया है कि यह जानते हुए भी कि इस क्रियासे प्राणप्यारे श्यामसुन्दरको सुख मिलता है, गोपी कहीं उन्हें पीड़ा न पहुँच जाय इस आशंका से व्यग्र रहती है। यह व्यग्रता प्रेमकी एक उत्कट परिणति है। प्रेमकी भाषा है। प्रेम ऐसा रसायन है जो असन्तोषको सन्तोष, धृष्टताको विनय, सादगीको अलङ्कार, अज्ञानको ज्ञान, हारको जीत, दुःखको सुख, उत्कृष्टताको निकृष्टता, अन्धकारको प्रकाश, निषेधको विधि, अशक्तको समर्थ, वियोगको संयोग, मृत्युको जीवन चञ्चलताको समाधि, निन्दाको स्तुति, हानि को लाभ, विस्मृतिको स्मृति, सकामताको निष्कामता, असतको सत, निग्रहको अनुग्रह, मूर्खको विद्वान् और शिष्यको भी गुरु बना देता है। प्रेममें न केवल कर्म, गुण और आकारमें ही परिवर्तन करनेकी क्षमता है वह सम्पूर्ण प्रकृतिमें भी उलट-फेर करनेमें समर्थ है, प्रमका यह सामर्थ्य प्रेमी और प्रियतमकी सिद्धि या शक्ति नहीं है प्रत्युत शुद्ध रूपसे प्रेमका ही सामर्थ्य है। इतना होनेपर भी प्रेम स्वयं अपने आपमें किसी भी विशेषताका अभिमान धारण नहीं करता। वह स्व दृष्टिसे निर्विशेष और परदृष्टिसे सविशेष है।

परमानन्दकन्द मुकुन्दके अङ्ग अङ्गसे रसमयी मधुमयी आह्लादमयी प्रकाश रश्मियोंका विकीरण होता रहता है। सकलभुवनसौभाग्यसारसर्वस्व, सत्त्वगुणके उपजीव्य, अनन्तविलासमय, अमायिक विशुद्ध सत्त्वका अनवरत उल्लास होते रहनेके कारण वे असमोर्ध्व मधुर हैं। उनमें किसी भी प्रकार चित्त लग जानेसे विधि विधानके बिना ही निसर्ग-समुल्लासिनी प्रीतिका विकास हो जाता है। वह प्रीति किसी भी दूसरे विषयसे

विच्छिन्न नहीं होती। अन्य-परत्वको सहन नहीं करती। अवश्य ही वह ह्लादिनी शक्तिकी सारभूता एक विशेष शक्ति है। भगवान्‌की अनुकूलता ही उसकी आत्मा है। भगवान्‌के लिये प्यास और भगवद्रसकी अनुभूति उसकी आकृति है। भक्तकी मनोवृत्ति ही उसकी देह है। अनन्तगुणित अमृतसे अधिक सरस निज स्वरूपसे ही वह अपनेको सरस बनाती है। आत्मरहस्य संगोपन होना उसका स्वभाव है। सारे पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष उसके दास हैं। वह भगवान्‌के प्रति पातिव्रत-व्रतके अनुष्ठान में संलग्न है। उसका रूप भगवान्‌के मनको भी हरण करनेवाला है। यह प्रीतिरानी निरन्तर भगवान्‌की सेवामें लगी रहकर सर्वोपरि शोभायमान होती है। यही भगवान्‌की वह प्रीति है जो स्वयं भगवान्‌को भी अपने अधीन कर लेती है।

प्यारे कृष्ण!

श्रीकृष्ण! मुझे मालूम नहीं, कुछ-कुछ मालूम होनेपर भी याद नहीं आता कि मैं तुमसे कबसे बिछुड़ा हुआ हूँ! युगपर युग बीत गये, जन्मपर जन्म बीत गये। कभी तिनका होकर लोगोंके पैरोंके नीचे कुचला जाता रहा, कभी लकड़ी बनकर आगमें जलता रहा, कभी कीड़े मकोड़े बनकर लोगोंको सताता रहा, कभी समुद्रकी उत्ताल तरंगोंमें बहता रहा और कभी अनेकों पशु-पक्षियोंकी योनियामें पैदा होकर लोगोंके द्वारा विताड़ित होता रहा, न जाने किस-किसको पुकारा, किसके-किसके चरणोंकी शरण ली, परन्तु तुम्हें नहीं पुकारा। कई बार स्त्री होकर लोगोंका भोग्य बना और न जाने कितनी बार पुरुष होकर कितनोंकी चापलूसी करता रहा! श्रीकृष्ण एक बार भी सच्चे हृदयसे मैंने तुम्हारे चरणोंकी शरण नहीं ली। एक बार भी आर्तस्वरसे तुम्हें नहीं पुकारा! पुकारनेकी इच्छा भी नहीं हुई! मैं जलते हुए लोहेके द्रवको अमृत समझकर पीनेके लिये दौड़ा, उससे जलकर जलते हुए सोनेके द्रवकी ओर दौड़ा, उससे लौटकर खारे समुद्रमें कूद पड़ा और वहाँ भी भूखा प्यासा रहकर अनेक जल जन्तुओंसे विताड़ित हुआ कहाँ नहीं गया, किसके दरवाजेपर मैंने सिर नहीं पटका? परन्तु हाय री मेरी दुर्बुद्धि! एकबार भी तुमने सच्चे स्वामीकी स्मृति नहीं की!!

यह सब होता रहा, इस सब दौड़ धूपके अंदर एक प्रेरणा थी श्रीकृष्णकी। हा! श्रीकृष्ण!! तुम्हारी ही प्रेरणा थी। तुम

आलिंगन पाकर सर्वदाके लिये उनके हृदयसे सट जाऊँ-एक हो जाऊँ। यह इच्छा तुम्हारी दी हुई इच्छा थी। परन्तु मैं इतना पागल था कि यह नहीं समझ रहा था यह इच्छा किसकी दी हुई है। यह भी नहीं समझ रहा था कि किसके पास जानेसे यह इच्छा पूरी होती है! मैं बिना जाने अनजान पथसे चल पड़ा और ढूँढ़ने लगा उन विषयोंमें सुख और शान्तिको, जहाँ स्वप्नमें भी उनके दर्शन नहीं हो सकते!

परन्तु अब मैं समझ गया। यह कैसे कहूँ कि मैं समझ गया? तुम्हारे प्रेमियोंसे सुनता हूँ, तुम्हारे प्रेमियोंने जो कुछ तुम्हारा सदेश सुनाया है, उससे अनुमान करता हूँ कि मेरी इच्छा, अनन्त आनन्द और सुखकी अभिलाषा सच्ची थी। फिर भी मेरा मार्ग ठीक न था। मैं मरुस्थलमें पानी ढूँढ रहा था। मैं ससारमें सुखके लिये भटक रहा था। भला ससारमें सुख कहाँ! भटक चुका, खूब भटक चुका, जान गया कि सुख तो तुम्हारे चरणोंमें ही है। अब प्रभो! तुम्हारे चरणोंमें आ गया हूँ, ये तुम्हारे लाल तलुवे, ये तुम्हारे कमलसे कोमल चरण सर्वदा मेरे हृदयसे सटे रहें, इनकी शीतलतासे मेरे हृदयकी धधकती हुई आग शान्त हो जाय। प्रियतम! एक बार मेरे वक्षःस्थलपर अपने चरणोंको रख दो न! रख दो, बस मेरी एक बात मान लो!

मैं भी कैसा अज्ञानी हूँ! हृदयकी तहमें तो अब भी विषयोंकी लालसा है और वाणीसे तुम्हारी प्रार्थना [illegible]। इसीसे मालूम होता है श्रीकृष्ण! [illegible] ही मु[illegible] रहे हो और मेरे पास नहीं आ रहे [illegible] तुम्हारे [illegible], तुम्हारे दूतोंके द्वारा सुने हुए [illegible] है। थोड़ी देरके लिए [illegible] ठीक [illegible] नहीं कि

आलिंगन पाकर सर्वदाके लिये उनके हृदयसे सट जाऊँ-एक हो जाऊँ। यह इच्छा तुम्हारी दी हुई इच्छा थी। परन्तु मैं इतना पागल था कि यह नहीं समझ रहा था यह इच्छा किसकी दी हुई है। यह भी नहीं समझ रहा था कि किसके पास जानेसे यह इच्छा पूरी होती है! मैं बिना जाने अनजान पथसे चल पड़ा और ढूँढने लगा उन विषयोंमें सुख और शान्तिको, जहाँ स्वप्नमें भी उनके दर्शन नहीं हो सकते!

परन्तु अब मैं समझ गया। यह कैसे कहूँ कि मैं समझ गया? तुम्हारे प्रेमियोंसे सुनता हूँ, तुम्हारे प्रेमियोंने जो कुछ तुम्हारा संदेश सुनाया है, उससे अनुमान करता हूँ कि मेरी इच्छा, अनन्त आनन्द और सुखकी अभिलाषा सच्ची थी। फिर भी मेरा मार्ग ठीक न था। मैं मरुस्थलमें पानी ढूँढ रहा था। मैं संसारमें सुखके लिये भटक रहा था। भला संसारमें सुख कहाँ! भटक चुका, खूब भटक चुका, जान गया कि सुख तो तुम्हारे चरणोंमें ही है। अब प्रभो! तुम्हारे चरणोंमें आ गया हूँ, ये तुम्हारे लाल तलुवे, ये तुम्हारे कमलसे कोमल चरण सर्वदा मेरे हृदयसे सटे रहें, इनकी शीतलतासे मेरे हृदयकी धधकती हुई आग शान्त हो जाय। प्रियतम! एक बार मेरे वक्षःस्थलपर अपने चरणोंको रख दो न! रख दो, बस मेरी एक बात मान लो!

मैं भी कैसा अज्ञानी हूँ! हृदयकी तहमें तो अब भी विषयोंकी लालसा है और वाणीसे तुम्हारी प्रार्थना कर रहा हूँ। इसीसे मालूम होता है श्रीकृष्ण! कि तुम दूरसे ही मुझे देखकर हँस रहे हो और मेरे पास नहीं आ रहे हो। मैंने तुम्हारे प्रेमियोंके द्वारा, तुम्हारे दूतोंके द्वारा सुने हुए सन्देशको सच्चे रूपमें अभी ग्रहण नहीं किया है। थोड़ी देरके लिए उन सन्देशोंको सुन लेनेपर भी मनने उन्हें ठीक रूपसे ग्रहण नहीं किया है। यदि मन तुम्हारे सन्देशको सत्य

मानता, उसका विश्वास हो जाता कि सच्चा रस तो श्रीकृष्णके स्मरणमें ही है। यदि वह अनुभव कर लेता कि विषयोंमें रस नहीं है, तो फिर वह कभी स्वप्नमें भी विषयोंकी ओर नहीं जाता, तुम्हारे चरणोंका रस लेनेमें ही मत्त होता। ऐसा नहीं होता, जैसा कि मनकी आज स्थिति है। श्रीकृष्ण! परन्तु मैं करूँ ही क्या? मनको मनाना मेरे हाथमें तो है नहीं, वह बड़ा बलवान है, अपने हठपर उटा हुआ है। काम, क्रोध, लोभ आदिसे उसने दोस्ती कर रखी है, वह तुम्हारा सन्देश सुनकर भी अनसुना कर देता है। सब कुछ देखते सुनते हुए भी उसी मार्गमें चलने लगता है, जिससे चलनेका उसे अभ्यास हो गया है।

इसका एक उपाय है, तुम सन्देश मत भेजो। आओ, स्वयं आओ, मेरा बात तो सुन ही रहे हो न! एक क्षणके लिये मेरी आँखोंके सामने प्रकट हो जाओ। थोड़ी देरके लिये मेरे हृदयमें आकर बैठ जाओ और सन्देशके स्थानपर अपने मुँहसे तुम मनको आदेश दे दो कि मन, तुम मेरे हो, मेरी सेवामें रहो, एक क्षण भी मुझे छोड़कर मत जाया करो। मेरे सर्वस्व, मेरे श्रीकृष्ण! वह तुम्हारी आज्ञा मानेगा। मेरा विश्वास है, तुम्हारा आज्ञा अवश्य मानेगा। कर दो न ऐसा ही? मैं सर्वदाके लिये तुम्हारे चरणोंकी सन्निधि पा जाऊँ। श्रीकृष्ण क्या कहते हो? मेरा हृदय कलुषित है। वह तुम्हारे आने योग्य नहीं है। मेरी आँखें दूषित हैं। वे तुम्हारा दर्शन करने योग्य नहीं हुई हैं, परन्तु मेरा वश क्या है? मेरी आँखों और हृदयको शुद्ध करनेवाला और है ही कौन? तुम स्वयं पवित्र कर लो और आ जाओ। यदि उनके शुद्ध होनेपर ही तुम आओगे, तब तो मैं करोड़ो कल्पमें भी तुम्हारे दर्शनका अधिकारी नहीं बन सकूँगा। श्रीकृष्ण तुम बड़े दयालु हो, बड़े भक्तवत्सल हो। तुमने स्वयं स्वीकार किया है कि मैं प्रेमपरवश हूँ। परन्तु मैं भूल कर रहा था, मैं

भक्त नहीं हूँ, मै तुमसे प्रेम भी नहीं करता। मै सच्चे हृदयसे अपनेको दयापात्र भी नहीं मानता। कहाँ है मुझमें दीनता? मैं तो अभिमानका पुतला हूँ। तब क्या मुझपर दया नहीं करोगे! श्रीकृष्ण इसी अवस्थामें तो मैं वास्तवमें दयाका पात्र हूँ। यदि मैं अपनेको दयापात्र समझता, तब तो दयापात्र होता ही। उसमें तुम्हारी दयालुता क्या होती! मेरी दशा तो इतनी दयनीय हो गयी है कि मैं अपनेको दयापात्र भी नहीं समझता, इसलिये मैं और भी दयाका पात्र हो गया हूँ। जैसे भयकर रोगसे ग्रस्त प्राणी उन्मादके कारण अपने रोगको नहीं समझ पाता और इसीसे लोग उसपर विशेष दया करते हैं, वैसे ही अज्ञानवश अपने रोगको न समझनेवाला मैं क्या तुम्हारा विशेष दयापात्र नहीं!

मैंने तुम्हारी लीला सुनी है, मैंने तुम्हारी कथा सुनी है। तुम पतितोंको पतितपावन बना देते हो, अधमोंको अधमोंके उद्धारका साधन बना देते हो। तुम प्रेमियोंके नचानेपर नाचते हो और वे जो–जो कहते हैं, करते हो। मै तुम्हारे दरवाजेपर तुम्हारे चरणोंके पास लोटकर तुमसे प्रार्थना कर रहा हूँ। उठा लो मुझे, एक बार कह दो, तुम मेरे हो। अपना लो न प्रभु! सब संसार तो तुम्हारा है ही। तो क्या मुझे ही बाहर रखना चाहते हो? मैं भी तुम्हारा ही हूँ। फिर यह कहनेमें क्यों देर करते हो! स्वामिन्! तुम मुस्करा रहे हो! क्यों मुस्करा रहे हो? क्या मेरे अज्ञानपर! हाँ, मैं हँसने ही योग्य हूँ। तुम ही इशारा कर रहे हो न कि तू तो मेरा है ही, सभी अवस्थाओंमें मेरा रहा, मैंने कभी तुझे छोड़ा नहीं। तुम यही कह रहे हो न नाथ! कि पाप करते समयमें भी मैं तेरे साथ रहा। तेरे पीछे खड़ा होकर तुझे देखता रहा, एक क्षणके लिये भी तुझे नहीं छोड़ा। मैं तुझे प्रेम करता हूँ और तूने ही मुझे छोड़ दिया है, मेरी ओरसे आँखें बन्द करली हैं। तू संसारकी सुन्दरतापर

मुग्ध हो गया है और तूने मेरी ओर देखना ही छोड़ दिया है। सत्य है प्रभो! तुम्हारा कहना ठीक है, तुमने मुझे नहीं छोड़ा, तुमने मुझपर अमृतकी वर्षा की। मेरे साथ तुम्हें ऐसे स्थानोंमें भी जाना पड़ा जहाँ तुम्हें नहीं जाना चाहिये था। परन्तु हे अनन्तस्वरूप! अब मेरी त्रुटिपर मेरे अपराधपर दृष्टि मत डालो, यह शरीर, ये इन्द्रियाँ, ये प्राण, मन, बुद्धि, अहङ्कार, आत्मा जो कुछ भी मैं था, हूँ और होगा, वह सब तुम्हारा ही था, तुम्हारा ही है और तुम्हारा ही होगा। अब ऐसी कृपा करो कि मैं इस सत्यपर स्थिर हो जाऊँ और प्रतिक्षण तुम्हारे चरणकमलोंको अपने हृदयसे सटाये रहूँ। मेरे जीवनसर्वस्व! मेरे प्राणोंके प्राण! मेरे स्वामी! मेरे हृदयमें प्रेमकी ऐसी ज्वाला जगा दो, जिसमें मेरी सारी अहंता और ममता जलकर खाक हो जायँ, हृदयके मन्दिरमें तुम्हें बैठनेकी जगह बन जाय। प्रियतम! अपना ऐसा विरह दो, कि सारा हृदय आँसू बनकर आँखोंको धो डाले और आँखें सर्वत्र, सर्वदा तुम्हारी अनूप रूपराशिका मधु पीकर छक जायँ।

प्रभो! दे दो न अपने लिये व्याकुलता? मैं तुम्हारे लिये तड़फड़ाता हुआ घूमा करूँ—

हे नाथ रमण प्रेष्ठ क्वासि क्वासि महाभुज!
दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय सन्निधिम्॥

हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन!
मग्नमुद्धर गोविन्द गोकुलं वृजिनार्णवात्॥

हे देव हे दयित हे भुवनैकबन्धो!
हे कृष्ण हे चपल हे करुणैकसिन्धो!

हे नाथ हे रमण हे नयनाभिराम!
हा हा कदा नु भवितासि पद दृशोर्नः ॥

युगायित निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायितम् ।
शून्यायित जगत् सर्वं गोविन्द विरहेण मे ॥

श्रीकृष्ण! ये आँखें तुम्हारे अतिरिक्त और किसीको क्यों देखती हैं? चाहे तो तुम इनके सामने आओ और चाहे इन्हें जला दो। यह वाणी दूसरेका नाम क्यों लेती है? चाहे तो इससे तुम्हारा ही नाम निकले और चाहे यह नष्ट हो जाय। श्रीकृष्ण! मेरे कान तुम्हारा ही मधुर आलाप सुनें, तुम्हारी ही बाँसुरीकी तान सुनें, या बहरे हो जायँ। मेरी चित्तवृत्ति और किसीको न देखें, न सुने, न स्पर्श करे। मेरी क्यों! यह तुम्हारी ही चित्तवृत्ति है, लगा लो अपने चरणोंमें प्रभो! मेरे दयालु प्रभु! मेरे प्रेमी प्रभु! लगा लो न, रहा नहीं जाता। विवश हो रहा है चित्त, एक बार तो कृपा कर दो। कृपा तो तुम्हें करनी ही है। बिना कृपा किये तो तुम रह ही नहीं सकते, फिर देर क्यों कर रहे हो? अभी कर दो न? यह देखो, एकटक आँखें खोले, मुँह बाये तुम्हारी ओर देख रहा हूँ। मेरे प्यारे कृष्ण! प्यारे कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण!

सख्य-रस

रसका स्वरूप है—आस्वादन। इन्द्रियोंसे, अन्त करणसे और अन्तरात्मासे आस्वादन करते जाइये, रस लेते जाइये, यदि कहीं इसकी परम्परा टूट जाती है, कहीं रसनीय वस्तु अथवा रसास्वादन करनेवाले करणोंमें विच्छेद हो जाता है, दोनो या उनमसे कोई एक नहीं रहता तो ऐसा समझिये कि अभी आपको रसकी उपलब्धि नहीं हुई है। जहा भाव और भावके विषयमें स्थायित्व ही नहीं है, वहा रसकी प्रतीति तो काव्यदृष्टिसे भी कल्पनामात्र है। रस वह आस्वादन है, जिसमे आस्वादक और आस्वाद्य दोनो इतने घुल मिल जाते हैं कि उन्हें पारस्परिक भेदका भी बोध नहीं रहता। इसीसे लौकिक स्थूल विषयोंको लेकर जिस रसकी अनुभूति होती है वह तो रसाभास मात्र है, वास्तविक रस नहीं, क्योंकि उसके आलम्बन और उद्दीपन दोनों ही क्षणिक एव अस्थायी हैं। इसमे सन्देह नहीं कि लौकिक रसानुभूतिका व्यापार भी मानसिक ही है, फिर भी स्थूल घटनाओंके आश्रित होनेके कारण उसमेंसे रसाभासकी व्याप्ति दूर नहीं की जा सकती। इसीसे विचारशील पुरुष रसाभासके पीछे न भटककर नित्य-रसकी शोध करते हैं, जो कि आलम्बन और उद्दीपनकी एकरस नित्यता और सत्यताके आधारपर प्रतिष्ठित है। स्थूल भूताका सयोग न होनेके कारण उसकी दिव्यता और चिन्मयता अबाधित है। यह चिन्मयका चिन्मयसे चिन्मय सयोग अथवा चिन्मय वियोग, जिसका स्थायित्व अव्याहत है, वास्तवमें रस है और भक्तोंने अपनी अन्तर्दृष्टिसे अनुभव करके इसीका रसत्व स्वीकार किया है। वृत्तियाके आलम्बन और उद्दीपन दो प्रकारके होते हैं—एक तो वे जो वृत्तियोंके चाञ्चल्य

एवं बहिर्मुखताके विषय हैं, जिनका जीवन वृत्तिसापेक्ष होनेके कारण मनोमय एवं क्षणिक है। दूसरे वे होते हैं, जो वृत्तियोंके आश्रय हैं, वृत्तियोंके शान्त होनेपर अनुभवमें आते हैं और लौकिक दृष्टिसे वृत्तियोंके न रहनेपर भी जिनका अस्तित्व अक्षुण्ण है। यों भी कह सकते हैं कि वृत्तियोंके शान्त होनेपर ही उनका आविर्भाव होता है। इन वृत्तियोंके आश्रयभूत आलम्बन और उद्दीपनोंसे जहाँ रसकी अनुभूति प्रारम्भ होती है, वहीं इस भक्तिरसका श्रीगणेश समझना चाहिये।

यद्यपि जीवका सम्पूर्ण प्रयत्न भगवत्कृपा और प्रेरणा के अधीन ही है, तथापि वृत्तियोंको शान्त करके नि:सङ्कल्प हो जाना, अपने शुद्ध स्वरूपमें स्थित हो जाना--यहाँ तक साधनोंकी यत्किञ्चित् गति है। जब अपने इस सहजस्वरूपमें जीव स्थित हो जाता है, तब निखिल संसारकी निवृत्तिसे निश्चिन्तता और अखण्ड स्वातन्त्र्यका परम सुख उपलब्ध होता है। अन्तर्मुखताकी यही परम सीमा है और इसीको 'शान्त रस' भी कहा जा सकता है। अन्तरात्माकी इस शुद्ध स्थितिमें, जबकि वह बाह्य विषमताओंसे ऊपर उठ जाता है, भगवान्‌के ऐश्वर्यका आविर्भाव होता है। 'महतो महीयान्' प्रभुको अपनी सेवा स्वीकार करनेके लिये अनुग्रहवश सम्मुख प्रगट हुआ देखकर जीव अपनेको उनके चरणोंमें समर्पित कर देता है, उनकी सेवाके लिये निछावर हो जाता है और उनकी सेवाका सुअवसर प्राप्त करके अपनी सम्पूर्ण शक्तिसे उसीमें संलग्न हो जाता है। इस अवस्थामें जीव भगवान्‌के ऐश्वर्यमय लोकमें रहता है और वहाँकी प्रत्येक सम्भव सेवाका सौभाग्य प्राप्त करता है। पंखा झलना, चँवर डुलाना, चरणकमलोंका पखारना, दबाना तथा और भी बहुत प्रकारकी सेवाएँ मिलती हैं। भगवान् उन्हें स्वीकार करके बहुत प्रसन्न होते हैं। इस समय भक्तके सामने भगवान्‌का रूप होता है, लीला होती है और

वह उनकी सेवामें लगा रहता है। इसके साथही भगवान्का ऐश्वय, उनकी अचिन्त्य शक्ति देख देखकर भक्त उसीमें अपनेको डुबाता रहता है। इस परमेश्वरको अपने स्वामीके रूपमें प्राप्त करके जीव प्रतिक्षण एक अनिर्वचनीय रसका अनुभव करता है। भक्तका यह परमानन्द किसी भी लौकिक सुखसे तुलना करने योग्य नहीं रहता। भक्तका यही परमानन्द 'दास्य-रस'के नामसे विख्यात है।

जिस क्षण भक्त दास्य-रसकी अनुभूतिमें तन्मय रहता है, उस समय उसके हृदयमें यह कल्पना भी नहीं आ सकती कि दास्य रससे ऊँचा भी कोई रस है। क्योंकि अपने एक एक सङ्कल्पसे कोटि कोटि ब्रह्माण्डोंका सृजन और संहार करनेवाले प्रभुकी सेवासे बढ़कर और किसी स्थितिकी कल्पना ही कैसे की जा सकती है? इसलिये इसके आगेका रस भक्तको उसकी इच्छासे नहीं, भगवान्की इच्छासे प्राप्त होता है। भगवत्सम्बन्धका रस सर्वत्र एकरस ही होता है। तथापि भगवद्-लीलाकी दृष्टिसे उसमें आगे पीछेका व्यवहार भी एक प्रकारसे सङ्गत ही है। इसीसे इस नियमका कोई अपवाद नहीं कि सच्चा सेवक सखाके पदपर प्रतिष्ठित हुए बिना नहीं रहता। प्रेमी स्वामी जब देखता है कि सेवकका सच्चा प्रेम ही सेवाके रूपमें अभिव्यक्त हो रहा है, तब वे उसे सेवक नहीं रहने देते, सखा बना लेते हैं। भगवान् तो किसीको अपना सेवक नहीं मानते, वे सर्वभूतमहेश्वर होनेपर भी अपनी ओरसे सबके सुहृद् ही हैं। जीव जब उन्हें स्वामीके रूपमें प्राप्त करके उनकी सन्निधिमें रहते-रहते यह अनुभव करने लगता है कि ये तो अनन्त ऐश्वर्यवान् होनेपर भी उसके अभिमानी नहीं हैं, परम सहृदय एवं रसिकशिरोमणि हैं, किसीके भी साथ साधारण से साधारण खेल खेलनेमें भी इन्हें कोई हिचक नहीं है इसके विपरीत ये आनंदित ही होते हैं, तब वह भगवान्की लीलाओंसे ही थोड़ा थोड़ा ढीठ होने लगता है, और कहा वह हाथ

जोड़ रहता था, बोलते समय सहम जाता था, और कोई अपराध न हो जाय-इसके लिये काँपता रहता था, वहाँ वह अब हँस-खेल लेता है, उलाहना भी देने लगता है और कभी कभी अपनी बात माननेके लिये जिद भी कर बैठता है। यद्यपि इसके चित्तसे ऐश्वर्यका पूरा भाव उठ गया हो-ऐसी बात नहीं होती। सेवासे वैमुख्य भी कभी नहीं होता, फिर भी अधिकांश ऐश्वर्यकी भावना अन्तर्हित ही रहती है और यही कारण है कि इस स्थितिमें पहलेकी अपेक्षा अधिक सेवा हो पाती है और कभी कभी तो उपालम्भ देकर भी सेवा स्वीकार कर ली जाती है। श्रुतिमें भी भगवान् और जीवके सख्यका सुस्पष्ट निर्देश है।

भगवान्के सभी लोकोंमें कुछ-न-कुछ सखा रहते हैं। सभी अवतारोंमें उनका साहचर्य भगवान्को भी अपेक्षित रहता है। परन्तु श्रीकृष्ण भगवान्की लीलामें तो सखाओंका प्राधान्य ही है। बचपनसे लेकर किशोरावस्था तक और जागरणसे लेकर शयन तककी लीलाओंमें ग्वालबालोंकी उपस्थिति अनिवार्य रही है। श्रीकृष्ण सोते ही रहते, आँगनमें ग्वाल-बालोंकी भीड़ इकट्ठी हो जाती। गोष्ठमें सब साथ-साथ गौएं दुहते, गाँवके आसपास बछड़ोंको चराते। गौओंके साथ-साथ जङ्गलमें जाते, यमुनामें जल उछाल उछालकर डुबकियाँ लगा-लगाकर नहाते, खेलते-कूदते, लड़ते-भिड़ते, गाते-बजाते और शामको मौजसे घर लौटते। ब्रजके ग्वाल-बाल रातमें भी श्रीकृष्णके साथ ही रहते थे, परन्तु सख्य रसकी यह गुह्यलीला प्रकट करने योग्य नहीं है। ग्वालोंका जीवन, प्राण, शरीर और धन—सब कुछ श्रीकृष्णके लिये था और श्रीकृष्ण उनके थे। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि उनकी प्रत्येक चेष्टा श्रीकृष्णके लिये ही थी। जङ्गलमें श्रीकृष्ण कुश्ती लड़ते-लड़ते दौड़ते-दौड़ते जब थक जाते, तब किसी गोपकी गोदमें सिर रखकर लेट जाते। कोई कोमल पत्ता और सुकुमार कुसुमोंकी

सेज बिछा देता, कोई साँवले शरीरपर मोतीकी तरह चमकते हुए श्रमबिन्दुओंको पोंछने लगता, तो कोई कमलके बड़े पत्तेसे पङ्खा झलने लगता, कोई बालपर पड़ी हुई धूलिको झाड़कर उनमें सुगन्धित पुष्प गूँथने लगता तो कोई पैर ही दबाने लगता, कोई नाचता तो कोई गाता, कोई ताली बजाने लगता तो कोई सींग। श्रीकृष्णको जैसे सुख पहुँचता, वे जैसे प्रसन्न होते, वही सब करने लगते। कभी उनसे होड़ भी लगाते, कभी उनको हरा भी देते और कभी-कभी तो दाँव लेते-लेते उन्हें परेशान कर देते। सख्य भावकी इस पूर्णतामें जो रस था, जो रस है, किसीकी बुद्धि उसकी कल्पना कर ले, उसको अपने आकलनके घेरेमें बाँध ले—यह सम्भव नहीं है।

सखा दो प्रकारके होते हैं—एक तो नित्य-सिद्ध और दूसरे साधन सिद्ध। नित्य-सिद्ध वे हैं, जो भगवान्‌के चिदानन्दमय धामकी चिदानन्दमयी लीलामें भगवान्‌के नित्य सहचर हैं। साधन सिद्ध वे हैं, जो अनेकों जन्मपर्यन्त तपस्या करके भगवान्‌की कृपा और प्रसादका अनुभव कर सके हैं और क्रमश उत्तरोत्तर भावोद्रेकके अनुसार रसका अनुभव करते हुए सखाकी श्रेणीतक पहुँचे हैं। साधन सिद्ध सखाओंकी श्रेणीमें देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी सभी हो सकते हैं। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि भगवान्‌की लीलामें जो शरीर, मन, प्राण और नदी, वृक्ष, भूमि आदि होते हैं वे सब-के-सब चिन्मय एव दिव्य होते हैं। वहाँ रोग शोक, जरा मृत्यु आदि दोषोंका प्रवेश नहीं है। वहाँ एक ही ऋतुमें सब ऋतु, एक ही समयमें सब समय, एक ही स्थानमें सब स्थान और एक वस्तुमें सभी वस्तुएँ समायी हुई हैं। सक्षेपमें भगवान्‌के लीला-धाममें देश, काल और वस्तुओंका भेद नहीं होता, भगवान्‌की इच्छा ही देश, काल और वस्तुओंके रूपमें प्रकट होती रहती है। एक ही समय, एक ही स्थानमें भगवान् अनेक रूपोंमे प्रकट रहते हैं, प्रत्येक व्यक्तिके साथ पृथक्-पृथक लीला करते

हैं। कहीं श्रीदामाके साथ कुश्ती लड़ रहे हैं तो कहीं सुबलके साथ झूल रहे हैं। कहीं शरद् ऋतु है तो कहीं वसन्त। कहीं सायङ्काल है तो कहीं प्रातःकाल। यशोदाके लीलाक्षेत्रमें श्रीकृष्ण और ग्वालबाल सोये हुए हैं, तो ग्वालके लीलाक्षेत्रमें श्रीकृष्ण खेल रहे हैं और यशोदा दूसरे काममें लगी हैं। गोपियोंके लीलाक्षेत्रमें ग्वाल-बाल निकुञ्जमें प्रवेश नहीं कर सकते तो ग्वालोंके लीलाक्षेत्रमें गोपिया केवल दधि दान लेनेके लिये छेड़खानी करनेकी पात्र मात्र हैं। कहीं ग्रीष्मकी दोपहरी है, यमुनास्नान हो रहा है, तो कहीं शरद्की पूर्णिमा है, अमृतमयी ज्योत्स्नाका रस लूटा जा रहा है। इन सभी लीलाओंमें नित्यसिद्ध और साधनासिद्ध दोनों प्रकारके सखा नित्य सम्मिलित होते हैं।

व्रजके सखाओंकी चार श्रेणियाँ हैं—सुहृद, सखा, प्रियसखा और प्रियनर्मसखा। सुहृदोंकी अवस्था श्रीकृष्णसे कुछ बड़ी होती है। उनके सख्यमें वात्सल्यका लोकोत्तर सौरभ रहता है। उनके हाथोंमें कोई न कोई शस्त्र रहता है, जिससे वे दुष्टोंके आक्रमणसे श्रीकृष्णकी रक्षा करनेके लिये निरन्तर सचेष्ट रहते हैं। इस श्रेणीमें बलराम, सुभद्र, मण्डलीभद्र वीरभद्र आदि बहुतसे सखा हैं। ये श्रीकृष्णकी रक्षाके लिये इतने सतर्क रहते हैं कि कहीं बादल गरज जाय तो ये वृषभासुर जैसे दानवकी आशङ्कासे सजग हो जाते हैं और श्रीकृष्णकी रक्षाके लिये अपने प्राणोंकी तनिक भी परवा नहीं करते। इस श्रेणीके सखाओंमें मण्डलीभद्रका शरीर भौंरे-जैसा काले रंगका है। गुलाबी रंगका वस्त्र धारण करते हैं। सिरपर मयूरपिच्छ है हाथमें लाठी। देखिये, सुबलसे क्या कह रहे हैं। 'सुबल, मेरा कन्हैया दिनभर जङ्गलोंमें घूमते-घूमते थक गया है, इसकी खुमारी पूरी उतर जाय, ऐसी चेष्टा करनी चाहिये। मैं धीरे-धीरे सिर मलता हूँ, तुम पैर दबाओ नींद गाढ़ी हो जायगी, तब हम पखा झलेंगे।' बलरामका

शरीर शरत्कालीन मेघके समान शुभ्रवर्ण है। नील वस्त्र, घुंघचीकी माला, एक कानमें कुण्डल और एक कानमें कमल, भौंरे मडरा रहे हैं। लम्बी-लम्बी भुजाएँ श्रीकृष्णकी रक्षाके लिये फड़कती रहती हैं। सुबलसे आप कहते हैं—'सुबल! आज माँने मुझे रोक लिया है, मैं श्रीकृष्णके साथ नहीं जा सका। आज मेरी जन्मतिथि है, क्या करूँ? कृष्णके बिना मेरे प्राण छटपटा रहे हैं। तुम जाकर उससे कह दो आज वहीं भूलकर भी कालीदहकी ओर न जाय। गाँवके आसपाससे ही गौओंको चराकर लौटा ले आवे।' बलराम आज अपने कृष्णके साथ नहीं जा सके, परन्तु उनकी आत्मा श्रीकृष्णके साथ ही है। और वे उन्हींकी रक्षाके लिये चिन्तित हैं। यह वात्सल्यमिश्रित सख्य है।

सखाओंकी अवस्था कुछ छोटी किन्तु समानताको लिये हुए ही होती है। उनके सख्यमें दास्यका किञ्चित्-मिश्रण रहता है, क्योंकि प्रेम सेवाके रूपमें ही प्रकट होता है। इस श्रेणीमें विशाल, वृषभ, ओजस्वी, देवप्रस्थ, मरन्द, मणिबन्ध आदि हैं। ये सेवाके लिये निरन्तर उत्कण्ठित रहते हुए आपसमें एक दूसरेको प्रेरित करते रहते हैं। देखिये, एक सखा बोल रहा है—'विशाल, तुम पद्मिनीके पत्तेसे पखा झलो। वरूथप, तुम बिखरे हुए बालोंको सँभालो। वृषभ, तुम बातें बद करके पैर दबाओ। आज मेरा प्यारा कृष्ण कुश्ती लड़ते-लड़ते थक गया है।' इस श्रेणीके सखाओंमें देवप्रस्थ सबसे श्रेष्ठ हैं, उनके रूपका वर्णन इस प्रकार किया गया है— शरीर रक्तवर्ण है, बसन्ती रङ्गका वस्त्र धारण करते हैं। हाथमें गेंद है, गौओंकी रस्सी सिरपर लपेटे हुए हैं। कितनी सुन्दर झाँकी है। पर्वतकी एक विशाल कन्दरामें श्रीरामकी लम्बी बाँहपर सिर रखकर श्रीकृष्ण लेटे हुए हैं। दाँया हाथ हृदयपर है और देवप्रस्थ धीरे-धीरे उनका पैर दबा रहे हैं। श्रीकृष्णकी सेवाही इनका जीवन है।

प्रियसखाओंकी अवस्था श्रीकृष्णके बराबर होती है, इनमें दास्य और वात्सल्य दोनोंको दबाकर केवल सख्यभाव प्रकट रहता है। ये विभिन्न क्रीड़ाओंसे श्रीकृष्ण को प्रसन्न करते रहते हैं, कुश्ती लड़ते हैं, लाठी भी चलाते हैं और जैसे श्रीकृष्ण प्रसन्न हों, वैसीही चेष्टा करते हैं। इनमें श्रीदामा, सुदामा, दामा, वसुदामा स्तोककृष्ण आदि सखा हैं। इनमें श्रीदामा मुख्य हैं। इनमेंसे कोई उल्टी बात कहकर श्रीकृष्णको हँसाता है, कोई बाँह फैलाकर पुलकित शरीरसे भेंटता है, कोई धीरे-धीरे पीछेसे आकर आँख बंद कर लेता है। इस प्रकारकी सुखमय क्रीड़ा प्रायः हुआ करती है। श्रीदामाका शरीर मनोहर श्यामवर्णका है, पीताम्बर धारण करते हैं, सिरपर लाल पगड़ी है, हाथमें सींग और रस्सी हैं। प्रेमवश श्रीकृष्णका हर बातमें मुकाबला किया करते हैं। देखिये श्रीकृष्णसे मिलते हुए क्या कह रहे हैं-'कन्हैया तुम बड़े निठुर हो, एकाएक हमलोगोंको यमुनातटपर छोड़ कर कहाँ चले गये? यह तो भगवान्‌की बड़ी कृपा है कि शीघ्र ही तुम मिल गये। अच्छी बात है, आओ सबको गले लगा-लगाकर आनन्दित करो। मोहन, मैं तुमसे सच कहता हूँ-एक क्षणके लिये भी जब तुम आँखोंसे ओझल हो जाते हो, तब गौएँ क्या हैं, हम कौन हैं, गोष्ठ किधर हैं और हमें क्या करना चाहिये-इसका ध्यान ही नहीं रहता, सारी-की-सारी व्यवस्था ही उल्टी हो जाती है। कितना प्रेम है।

प्रियनर्मसखाओंकी श्रेणी पूर्वोक्त तीनों श्रेणियोंसे अन्तरङ्ग है। इनकी भावना और भी ऊँची होती है और रहस्यकी बातोंमें इनका प्रवेश रहता है। इस श्रेणीमें सुबल, वसन्त, उज्ज्वल, गन्धर्व आदि सखागण हैं। समय-समयपर ये श्रीकृष्णका [illegible] श्री किशोरीजीको पहुँचाते हैं और उनके सन्देश श्रीकृष्णके [illegible] हैं। उनके भेजे हुए चित्रपट, पान आदि भी लाकर [illegible] । इनमें सु [illegible]

और उज्ज्वल प्रधान हैं। सुबलकी अङ्गकान्ति सोने-जैसी है, हरे रंगका वस्त्र धारण करते हैं, आँखें कमल सी हैं और नीतियुक्त वचनोंके द्वारा ये ग्वाल-बालोंको आनन्दित करते रहते हैं। उज्ज्वलकी अङ्गकान्ति श्रीकृष्णकी भांति वर्षाकालीन मेघके समान है। लाल वस्त्र धारण करते हैं, आँखें बड़ी चञ्चल हैं, इनके बालोंमें सुन्दर-सुन्दर पुष्प लगे रहते हैं। इनके सम्बन्धमें गोपियाँ चर्चा करती रहती हैं—'कहीं श्रीकृष्णका सन्देश लेकर उज्ज्वल आ गया तो हमारे मानकी रक्षा नहीं। वह बातचीत करनेमें इतना चतुर है कि उसके सामने हमारी एक नहीं चलती, हार जाना पड़ता है। ग्वालोंमें भी उज्ज्वल हास्यके लिये बड़े प्रसिद्ध हैं। ये तरह-तरहकी युक्तियोंसे ग्वाल-बालोंको हँसाया करते हैं। ग्वाल-बालोंमें बहुतसे शास्त्रोंके बड़े-बड़े विद्वान् भी हैं। कोई-कोई लोक-व्यवहारमें बड़े निपुण हैं। कोई-कोई इतने खिलाड़ी है कि उनके खेल देखकर देवता भी चकित हो जाते हैं। कोई श्रीकृष्णके साथ वितण्डा करते हैं तो कोई मधुर भाषणसे श्रीकृष्णको प्रसन्न करते हैं। सबकी प्रकृति मधुर है। सबका प्रेम लोकोत्तर है। सबके सर्वस्व श्रीकृष्ण हैं। सबके हृदय-सिंहासनके एकमात्र सम्राट् हैं 'श्रीकृष्ण'।

बड़े-बड़े संत आत्माके रूपमें जिनका अनुभव करते हैं, नारदादि श्रेष्ठ मुनिगण परमाराध्य इष्टदेवके रूपमें जिनकी आराधना करते हैं, जो अनन्त ऐश्वर्य और माधुर्यके एकमात्र केन्द्र होनेपर भी इन ग्वालबालोंके प्रेमवश इनके-जैसे होकर सामान्य बालककी भाँति लीला कर रहे हैं, उन भगवान्के प्रेम, दया और सुहृदताका कौन वर्णन कर सकता है! देखिये, आपके सामने यह वृन्दावनधाम है। कितनी सुगन्धि और कितना सौन्दर्य है इसमें भूमिपर हरी-हरी दूब और वृक्ष पुष्पोंसे लदे हुए। एक ओर यमुना, दूसरी ओर गौओंके झुण्डके-झुण्ड। इनके चरवाहे कौन हैं? वही नन्दनन्दन श्यामसुन्दर

श्रीकृष्ण पीताम्बर धारण किये हुए, सिरपर मयूरपिच्छ, कानोंमें कनेरके पुष्पोंके कुण्डल, अखाड़ेमें ग्वाल-बालोंके साथ नटोंकी तरह पतरा बदल रहे हैं। ग्वाल-बाल ताल ठोक-ठोककर ललकार रहे हैं। कोई किसीकी प्रशंसा करता है तो कोई ताल दे रहे हैं। अद्भुत लीला है। अनिर्वचनीय प्रेम है। विस्मित हो-होकर देवता लोग पुष्पोंकी वर्षा कर रहे हैं। हो जाइये आप भी इस आनन्दमें सम्मिलित !

सख्य-रसके उद्दीपनोंमें अवस्था, रूप, सींग, वंशी, विनोद आदि बहुत से पदार्थ हैं। जिस समय श्रीकृष्णके पास पहुँचनेके लिये ग्वालबाल व्याकुल रहते हैं, छटपटाते हैं, इधर-उधर भटकते रहते हैं, उस समय सींग या बाँसुरीकी ध्वनि उन्हें बता देती है कि इस समय कृष्ण कहाँ हैं। इस रसमें सभी प्रकारके अनुभाव होते हैं। गेंद खेलना, एक दूसरेपर सवारी गाँठना, झूला झूलना, दौड़ना, कलेऊ करना, जलविहार करना, नाचना, गाना इत्यादि बहुतसे अनुभाव प्रकट होते हैं। ये श्रीकृष्णका शृंगार करते हैं, कभी उन्हें फूलोंसे ढक देते हैं कभी उनके कपड़े पकड़कर खींचते हैं, कभी श्रीकृष्ण उनका शृङ्गार करते हैं, तो कभी हाथापाई भी हो जाती है।

सख्य रसकी अनुभूतिमें सभी सात्त्विक भाव भी प्रकट होते हैं। उस दिन जब श्रीकृष्ण कालीहृदमें कूद पड़े थे, ग्वाल बालोंकी क्या-क्या दशा हो गयी थी, किस प्रकार वे मूर्च्छित और मृतप्राय हो गये थे—इसका वर्णन नहीं किया जा सकता। जिस समय श्रीकृष्णने बाहर निकलकर श्रीदामाकी मूर्च्छा तोड़ी उस समय श्रीकृष्णसे मिलनेके लिये श्रीदामाने अपनी बाहें फैलानेकी चेष्टा की, परन्तु वह उठा नहीं सका, उसके सारे शरीरमें जड़ता आ गयी थी, वह स्तम्भित हो गया था। गोपियाँ सुबलसे कहा करती थीं–'सुबल तुम धन्य हो ! गुरुजनोंके सामने ही पुलकित शरीरसे तुम श्यामसुन्दरके शरीरसे लिपट

जाते हो। वे भी तुम्हारे कन्धोंपर हाथ रख देते हैं। कितना पुण्यमय है तुम्हारा जीवन ! हम तो निछावर हैं तुम्हारे ऐसे जीवनपर।'

सख्य-रसकी पाँच अवस्थाएँ होती हैं—सख्य-रति, प्रणय, प्रेम, स्नेह और राग। मिलनकी उत्कण्ठाका नाम 'रति' है। 'कब मिलेंगे ? कब मेरे प्रियतमकी मधुर वाणी मेरे कानोंमें अमृतकी वर्षा करेगी ? कब मैं उनका सख्य प्राप्त करके धन्य हो जाऊँगा ?' यह सख्य-रतिकी अवस्था है। सम्भ्रमित और स्तम्भित हो जानेकी स्थितिमें भी प्रभावित न होना प्रणयका लक्षण है। व्रजमें भगवान्‌की स्तुति करनेके लिये ब्रह्मा एवं शङ्कर-जैसे श्रेष्ठ देवता आये हुए हैं, वे अञ्जलि बाँधकर नतमस्तक होकर श्रीकृष्णकी अभ्यर्थना कर रहे हैं। परन्तु प्रणयकी ऐसी महिमा कि ग्वाला अर्जुन श्रीकृष्णके कन्धेपर हाथ रखकर मुकुटपर पड़ी हुई धूलि झाड़ रहा है। तिरस्कृत, अपमानित, दुःखित और निराश होनेपर भी सख्यका उत्तरोत्तर उन्मेष प्रेमका लक्षण है। अपने प्रियतम जिस अवस्थामें रक्खें, उसी अवस्थामें रहकर प्रसन्न होना और उनकी प्रसन्नताके लिये ही प्रत्येक चेष्टा करना स्नेहका लक्षण है। रागका अर्थ है सर्वस्वका बलिदान, अपने लिये कुछ न रखना। अश्वत्थामाने श्रीकृष्णपर बाण चलाया, अर्जुनने आगे होकर उसे अपनी छातीपर ले लिया और उसे मालूम हुआ मानों किसीने सुकुमार पुष्प फेंके हैं। श्रीकृष्णका सखा वृषभ जेठकी दुपहरामें नंगे सिर श्रीकृष्णको माला पहनानेके लिये फूल चुन रहा है। सूर्यकी प्रखर किरणें उसे ऐसी मालूम होती हैं मानो शरद्‌की चाँदनी हो।

सख्य रसमें संयोगके ही समान वियोग भी होता है। सहृदय पुरुषोंका कहना है कि बिना वियोगके संयोगकी पुष्टि नहीं होती। भगवान् श्रीकृष्णके वियोगमें गोपियोंकी क्या अवस्था होती है—यह प्रायः लोग जानते ही हैं। अपने सखा श्यामसुन्दरसे बिछुड़नेपर ग्वाल-बालोंकी स्थिति भी वैसी ही हो जाती है। श्रीरूपगोस्वामीने

इनका बड़ा मार्मिक वर्णन किया है। उसके स्मरण मात्रसे एक बार तो पत्थर-सा हृदय भी पिघल ही जाता है। एक ग्वाल, श्रीकृष्णका विरही ग्वाल क्या कह रहा है सुनिये तो सही—

> अघस्य जठरानलात् फणिह्रदस्य च क्ष्वेडतो
> दवस्य कवलादपि त्वमवितान येषामभूः।
> इतस्त्रितयतोऽप्यतिप्रकटघोरधाटीधरात्
> कथ न विरहज्वरादवसि तान् सखीनत्र नः॥

मोहन! अघासुरके जठरानल, कालिय-ह्रदके विष और दावानलके ग्राससे जिन्हें तुमने बचाया था, वे ही तुम्हारे सखा आज उन तीनोंसे भी प्रत्यक्षतः घोरतर शक्तिवाले इस भयङ्कर विरहकी ज्वालासे भस्म हो रहे हैं। तुम कहाँ हो, क्यों नहीं हमारी रक्षा करते? क्या हम दूसरे हो गये? हम वही, तुम वही, कष्ट उससे भी भयकर। फिर तुम्हारा न आना-हमारी रक्षा न करना—कहा तक उचित है?

उद्धव आये थे व्रजवासियोंका प्रेम देखने। वे जो कुछ शिक्षा ले गये व्रजसे, महात्माओंने उसका खूब गायन किया है। ग्वालोंकी क्या स्थिति देखी थी उन्होंने, यह उन्हींके शब्दोंमें सुनिये। वे श्रीकृष्णसे कह रहे हैं

> प्रपन्नो भाण्डीरेऽप्यधिकशिशिरे चण्डिमभर
> तुषारेऽपि प्रौढि दिनकरसुतास्रोतसि गत।
> अपूर्वः कमारे सुबलमुखमित्रावलिमसौ
> बलीयानुत्तापस्तव विरहजन्मा ज्वलयति॥

श्रीकृष्ण, तुम्हारे विरहकी धधकती हुई अपूर्व ज्वाला सुबल आदि सखाओंको रात दिन जला रही है। वे जब अत्यन्त शीतल भाण्डीरवटकी छायामें जाते हैं, तब वह ज्वाला और भी उग्रतर रूप

धारण करती हैं । जब वे यमुनाकी हिमशीतल धारामें प्रवेश करते हैं, तब उस ज्वालाका चमत्कार और भी बढ़ जाता है । कहाँ जायँ, किसका आश्रय लें ? जिस भाण्डीरके नीचे वे तुमसे दाव लेते थे, जिस यमुनामें पानी उछालकर तुम्हें हरा देते थे—वही भाण्डीर, वही सूनी यमुना आज उनको जलायेगी नहीं तो क्या करेगी ? श्रीकृष्ण, तनिक सोचो तो उनके तापको । कितने तप्त हैं वे तुम्हारे लिये ?

अब उनके शरीरमें दम नहीं है—दिन दिन उनका शरीर छीज रहा है, केवल लंबी साँस ही उनके जीवनकी निशानी है—

त्वयि प्राप्ते कंसक्षितिपतिविमोक्षाय नगरीं
गभीरादाभीरावलितनुषु खेदादनुदिनम् ।
चतुर्णां भूतानामजनि तनिमा दानवरिपो
समीरस्य प्राणाध्वनि पृथुलता केवलमभूत् ॥

तुम तो कंसकी मुक्तिके लिये—सखाओंको छोड़कर इस सुन्दर नगरीमें चले आये । उधर उनकी क्या दशा है, जानते हो कुछ ? ज्वालाका गम्भीर खेद उनके शरीरको खाये जा रहा है, तुम तो दैत्यांके दुश्मन हो, उन बेचारोंकी ओरसे इतनी उदासीनता क्यों ? देखो तो सही ! अब उनके शरीरमें पृथ्वी, जल, अग्नि और आकाश कितने कम हो गये हैं ? बाकी है तो केवल वायु, जो नासिकामार्गसे बड़े वेगसे चल रहा है । अब उनकी मृत्युमें कोई विलम्ब नहीं है । जल्दी करो, रक्षा करो ! उनकी यह कृशता तुमसे कैसे सही जा रही है ?

श्रीकृष्ण ! उनकी व्याकुलता इतनी बढ़ गयी है कि नींद तो उन्हें कभी आती ही नहीं । निद्राने उनकी आँखोंको स्वयं छोड़ दिया—

नेत्राम्बुजद्वन्द्वमवेक्ष्य पूर्वं बाष्पाम्बुपूरेण वरूथपस्य।
तत्रानुवृत्तिं किल यादवेन्द्र निर्विद्य निद्रामधुपी मुमोच॥

आँखें कभी खाली हों, तब तो नींद आवे ? जब देखो आँसू-बस, आँखें आँसूसे भरी ही रहती हैं। निद्रासे देखा नहीं गया। उसका भी हृदय फटने लगा उनकी विरह-व्यथा देखकर। उसने आना ही छोड़ दिया। इस तरह वे कितने दिन स्वस्थ रह सकेंगे? वे तुम्हारे लिये पागल तो हैं ही उनका यह पागलपन और मत बढ़ाओ श्रीकृष्ण!

उनका जीवन आलम्बशून्य हो रहा है। तुम्हीं थे उनके जीवन, उनके सर्वस्व, और आलम्बन, सो तुम्हीं नहीं रहे अब वे कैसे जीवित रहें? एक ग्वालने मुझसे कहा था—

गते वृन्दारण्यात् प्रियसुहृदि गोष्ठेश्वरसुते
लघूभूतं सद्यः पतदतितरामुत्पतदपि।
नहि भ्राम भ्राम भवति चटुलं तूलमिव मे
निरालम्बं चेतः क्वचिदपि विलम्ब लवमपि॥

जबसे मेरे प्यारे सखा श्रीकृष्ण वृन्दावनसे चले गये, एक क्षणके लिये भी मेरा चित्त कहीं स्थिर नहीं हुआ। वह रुईकी तरह हल्का होकर इधर-उधर उड़ता ही रहता है। उसका भटकना बन्द ही नहीं होता। कभी आकाशमें जाता है तो कभी पातालमें। जहाँ उसके आलम्बन श्रीकृष्ण ही नहीं, वहाँ वह कैसे ठहरे? अब ग्वाल-बाल घबरा गये हैं, उनके धैर्यका बाँध टूटनेवाला ही है। श्रीकृष्ण! मैंने कई महीनोंतक रहकर स्वयं उनकी दशा देखी है—

रचयति निजवृत्तौ पाशुपाल्ये निवृत्तिं
कलयति च कलाना विस्मृतौ यत्नकोटिम्।
किमपरमिह वाच्यं जीवितेऽप्यत्र धत्ते
यदुवर विरहार्त्ते नार्थितां बन्धुवर्गः॥

वे अब अपनी जीविकाका काम पशुपालन भी छोड़ रहे हैं। गौएँ भी तो हुकार भर-भरकर तुम्हें ढूँढ़ती ही रहती हैं। जो कुछ उन्हें कलाका—नाचने-गाने-बजाने आदिका ज्ञान है, उसे भूलनेके लिये कोटि-कोटि यत्न कर रहे हैं। और तो क्या कहूँ ? श्रीकृष्ण ! अब वे जीनेकी इच्छा भी नहीं करते। उन्हें कोई कैसे धीरज बँधावे ?

जानबूझकर वे अपनी जीविका आदिका त्याग कर रहे हों, ऐसी बात भी नहीं है। तुम्हारे विरहके कारण उनमें जड़ता आ गयी है। उनकी दशाका स्मरण करके हृदय फटने लगता है—

अनाश्रितपरिच्छदाः कृशविशीर्णरूक्षाङ्गकाः
सदा विफलवृत्तयो विरहितास्छविच्छायया।
विरावपरिवर्जितास्तव मुकुन्द गोष्ठान्तरे
स्फुरन्ति सुहृदा गणाः शिखरजाततृशा इव॥

शरीर पर वस्त्र नहीं, दुबले पतले, अस्त-व्यस्त, रूखे-सूखे जीविकाहीन, सौन्दर्यरहित। मुखसे एक शब्द भी नहीं बोलते। ऐसा मालूम पड़ता है कि पर्वत-शिखरपर निष्कम्प वृक्ष खड़े हों। श्रीकृष्ण उनसे भी गयी बीती हालतमें हैं तुम्हारे सखा। इसका कारण क्या है जानते हो न ? तुम्हारा विरह ! तुम्हारे विरहसे ही वे जड़प्राय हो गये हैं। मेरी तो आँख आँसुओंसे भरी जा रही है, बोला नहीं जाता क्या तुम इतने निष्ठुर हो गये ?

उनकी व्याधि कल्पनामात्रसे मेरे हृदयको जर्जरित कर रही है। उनकी एक एक गाँठ टूटती रहती है—मेरा हृदय टूटा जा रहा है ! चलो न, अपनी आँखसे ही देख लो ! न हो तो फिर लौट आना—

विरहज्वरसञ्चरेण ते ज्वलिता विश्लथगात्रबन्धना।
यदुवीर तटे विचेष्टते चिरमाभीरकुमारमण्डली॥

कबसे यमुनातटपर ग्वाल-बाल लोट रहे हैं ? हृदयमें तुम्हारे विरहकी ज्वाला प्रज्वलित हो रही है, शरीरका एक-एक बन्धन टूट रहा है । क्या तुम उन्हें इस स्थितिमें देख सकोगे ? श्रीकृष्ण ! तुम्हारी यह गम्भीरता नष्ट होकर रहेगी । तुम्हें उनको अपने गले लगाना पड़ेगा ।

उनकी उन्मत्त चेष्टा कल्पनातीत है । तुम आज मथुराके स्वामी हो, भूल जाओ उन्हें । परन्तु सोचो तो, क्या यह उचित है ? उनका उन्माद आज सीमाका उल्लङ्घन किये जा रहा है—

> विना भवदनुस्मृतिं विरहविभ्रमेणाधुना
> जगद्व्यवहृतिक्रमं निखिलमेव विस्मारिताः ।
> लुठन्ति भुवि शेरते बत हसन्ति धावन्त्यमी
> रुदन्ति मधुरापते किमपि वल्लवाना गणाः ॥

विरहके विभ्रमने यहाँतक उन्हें उन्मत्त कर दिया है कि वे आपको भी भूल गये हैं । जगत्‌के व्यवहारोंकी मर्यादा तो अलग ही रही । वह तो सब-की-सब उनकी स्मृतिसे बहुत दूर हो गयी है । वे कभी जमीनपर लोटते हैं, कभी सो जाते हैं, कभी हँसते हैं, कभी दौड़ते हैं, कभी रोते हैं, कभी मूर्च्छित हो जाते हैं । सारे जगत् को तुमने सुखी किया, केवल अपने ग्वालोंको रुलाया । आज संसार में आनन्दोत्सव मनाया जा रहा है और गोकुलमें सबकी आँखें अंधी हो रही हैं— किसीकी मूर्च्छा ही नहीं टूट रही है । यह मूर्च्छा कहीं मृत्युका रूप न धारण कर ले ?

श्रीकृष्ण उनकी मृत्यु भी उनसे दूर नहीं है । क्या मृत्यु इससे कुछ भिन्न होती है ?

कसारे विरहज्वरोर्मिजनितज्वालावलीजर्जरा
गोपा शैलतटे तथा शिथिलितश्वासाङ्कुरा शेरते ।
वार वारमसर्यलोचनजलैराप्लाव्य तान्निश्चलान्
शोचन्त्यत्र यथा चिर परिचयस्निग्धा कुरङ्गा अपि ।।

श्रीकृष्ण! तुम्हारे विरहज्वरकी लहरासे उत्पन्न ज्वालाओंने उनको इतना जर्जरित कर दिया है कि तुम्हारे ग्वाल बाल पर्वतकी तराईयोंमें इस प्रकार पड़े हुए हैं कि अब उनका श्वास भी बन्द हो गया है। देखो, उनके परिचित प्रमी हरिण अपनी अपरिमित अश्रुधारासे बार-बार सींचकर भी जब उन्हें नहीं जगा पाये, उनकी निश्चलता को भग नहीं कर सके तो अब वे बेचारे निरुपाय होनेके कारण शोकाकुल हो रहे हैं।

इससे भी अधिक कोई करुण अवस्था हो सकती है? हृदय फटा-सा जाता है उनकी अवस्थाकी कल्पना करके, परन्तु प्रेमियोंकी अवस्थाका यहीं अत नहीं है। वे मर-मरके जीते हैं, जी-जीके मरते हैं। मरनेपर भी उनके हृदयमे वही व्याकुलता, वही प्रेम और वही मिलनोत्कण्ठा! परन्तु यह रस है। इसका स्वाद जिसको मिल गया, वह इस दुःख या मृत्युका प्रतीकार नहीं करता। वह तो जन्म जन्म इसी अवस्थामें रहना चाहता है। भगवान्का विरह—ससारके सभी सयोग-सुखोंसे श्रेष्ठ सुख है। कई भक्त तो यह भी कहते हैं कि भगवान् के सयोगसे भी उनका वियोग- विरह अच्छा है। यदि किसीको उनके विरहका घाव लग जाय फिर उसकी कोई दवा नहीं। दवाकी जरूरत भी नहीं।

यह ग्वाल-बालोंका विरह प्रकट लीलाके अनुसार है। गुप्त लीलामें तो इनका कभी भगवान्से विरह होता ही नहीं। जगत्के

लोगोंको भगवान्‌के विरहमें कितनी पीड़ा होनी चाहिये, इसका यह निदर्शनमात्र है। इस विरहके द्वारा संयोगकी परिपुष्टि होती है। जिसके विरहमें इतना दुःख है, उसके संयोगमें कितना सुख होगा ! जब आगे-आगे गौएँ चलती हैं और पीछे-पीछे धूलिधूसरित श्रीकृष्ण बाँसुरी बजाते हुए, ग्वाल बाल उनके स्वरमें स्वर मिलाकर गाते हुए और ताल भरते हुए—कितना आनन्द होता है उस समय ! उसको 'आनन्द' शब्दकी सीमामें बाँधना ही अन्याय है। यह दर्शन देखनेवालों, स्मरण करनेवालों के चित्तमें ही परम रसका सञ्चार कर देता है। गोपियाँ – इसी वेशमें देखकर तो श्रीकृष्णपर निछावर हुई थीं। जब सख्यकी लीलाओंको देखनेवाले इतने प्रभावित, चमत्कृत और आनन्दित होते हैं, तब जो स्वयं सख्य-रसका आस्वादन करते हैं उनके आनन्दकी कल्पना कौन कर सकता है ? ब्रह्मा भी उनके भाग्यकी सराहना करते हैं—'यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्।' श्रीशुकदेवजीके शब्दोंमें—

यत्पादपांसुर्बहुजन्मकृच्छ्रतो धृतात्मभिर्योगिभिरप्यगम्यः ।
स एव यद्दृग्विषयः स्वयं स्थितः किं वर्ण्यते दिष्टमतो व्रजौकसाम् ॥

प्रेमनगरका प्रथम दर्शन

'सखी! आज तुम पहले-पहल इस प्रेमनगरमें आयी हो, इसलिये चलो तुम्हें यहाँकी कुछ बातें बताऊँ और भगवान्की कुछ लीलाएँ दिखाऊँ।

'भगवान् तो लाड़िलीजीके साथ उस कुञ्जमें चले गये न? अब लीला क्या दिखाओगी? कुछ उनके प्रेमकी बात सुनाओ। मेरी बात सुनकर तुम हँसने क्यों लगी? क्या कोई रहस्यकी बात है? यदि है और मैं उसे जानने देखनेकी अधिकारिणी हूँ तो अवश्य बताओ—और दिखाओ।'

'सखी! भला तुम किस बातकी अधिकारिणी नहीं हो? तुमपर युगल-सरकारकी अपार कृपा है, अनन्त प्रेम है। इस प्रेमनगरमें केवल उनकी प्रेमाधिकारिणी आत्माओंका ही प्रवेश हो सकता है। आश्चर्य मत करो, प्रेमसे सुनो और देखो, देख देखकर आँखें सफल करो। भगवान्की लीला बड़ी विलक्षण है, अद्भुत है। तर्क-युक्तियोंसे उसका रहस्य नहीं जाना जा सकता। वह तो केवल कृपासाध्य है, अनुभवगम्य है। परन्तु है और ऐसी ही है, जो कि अभी मैं तुम्हें दिखाऊँगी।'

'मुझे बड़ी उत्सुकता हो रही है। अब विलम्ब मत करो। जल्दी दिखाओ!'

'हाँ हाँ!! अब विलम्बकी क्या बात है? चलो, चलती चलें और बात भी करती चलें। देखो, इस प्रेमनगरकी बात निराली है।

इसके विभिन्न भागामें भगवान् विभिन्न प्रकारकी लीलाएँ करते रहते हैं। ये लीलाएँ अनादिकालसे अनन्तकालतक अर्थात् सर्वदा नित्य प्रवाह रूपसे चलती ही रहती हैं। कभी बन्द नहीं होतीं। किसी प्रकारका प्रलय इस नगरका स्पर्श नहीं कर सकता। प्रत्युत ज्ञानके द्वारा प्रकृति और प्राकृत जगत्‌के प्रलयके पश्चात् किसी किसी महापुरुष को भगवान् अपनी इस लीलाभूमिमें बुला लेते हैं। चलो, देखो, अभी मैं तुम्हें विभिन्न भागोंमें ले चलकर भगवान्‌की दिव्य लीलाओंका दर्शन कराती हूँ। तुम देखोगी कि कहीं रासलीला हो रही है तो कहीं चीरहरण हो रहा है। कहीं पूर्वराग तो कहीं मानलीला और कहीं संयोग तो कहीं वियोग हो रहा है। तुम आश्चर्य क्या करती हो? यह भगवान् की लीला है न? जैसे अनिर्वचनीय भगवान् हैं वैसी ही अनिर्वचनीय उनकी लीला है। यहाँ प्रकृति और प्राकृत गुणोंका प्रवेश नहीं, जड़ताका सञ्चार नहीं, यहाँ तो केवल चिन्मय ही चिन्मय है। भगवद्विग्रह चिन्मय, लीला चिन्मय और धाम चिन्मय है। यों भी कह सकती हो कि सब भगवान् ही भगवान् हैं। वे ही लीलाधाम रमणीय और रमण के रूपमें हो रहे हैं।'

'अच्छा तो अब चलो, तुम्हें कुछ कुमारियों के दर्शन कराऊँ। परन्तु उसके पहले एक बात और सुनलो। इस प्रेमनगरमें कालकी गति तो है ही नहीं, इसलिये एक ही समय कहीं वसन्त, कहीं वर्षा, कहीं शरद, कहीं शिशिर और कहीं हेमन्त ऋतु रहती है। युगल-सरकारके विहार कुण्डमें तो ग्रीष्म ही ग्रीष्म चलती है। एक साथ ही कहीं सूर्योदय हो रहा है तो कहीं सन्ध्या! कहीं रात्रि है तो कहीं दिन! सब भगवान्‌की लीला है न?

'और उनकी बात क्या सुनाऊँ? वे एक स्थानपर यशोदाकी गोदीमें बैठकर मन्द-मन्द मुस्कराते हुए दूध पी रहे हैं तो दूसरे स्थानपर ग्वालबालों के साथ खेल रहे हैं और तीसरे स्थानपर गोपियोंके

साथ रास-विलास कर रहे हैं। उनकी लीला अनन्त है, उनके प्रेमरसके आस्वादनके भाव अनन्त हैं। चलो, आज कुछ प्रेम भावोंका आस्वादन किया जाय। हाँ, ध्यान रखना, आज पहला दिन है, किसी एक भावके दर्शनमें ही अटक मत जाना। सब कुछ देखती-सुनती मेरे पीछे-पीछे चली आना, समझीं?

'देखो सायंकाल का समय है, सूर्यकी रक्तरश्मियाँ इनके लताकुञ्जोंपर पड़कर दूसरा ही रंग ला रही हैं। कुञ्जोंके सामने कुछ नन्हीं-नन्हीं-सी सुकुमार कुमारियाँ बैठी हुई हैं। देख रही हो न? उनकी आँखें कितनी उत्सुकताके साथ किसीकी प्रतीक्षामें लगी हुई हैं। कितनी लगन है, कितनी आतुरता है, कितनी बेकली है! बात यह हुई कि आज इन्होंने पहले पहल बाँसुरीकी यह मधुर ध्वनि सुनी है। सुनते ही इनका हृदय वशमें न रहा। ये छटपटाने लगीं। क्या न हो? जिसे सुनकर बड़े-बड़े मुनियोंसे लेकर शिवतक समाधिका परित्याग करके उसीके रसास्वादनमें लग रहते हैं, भला उसे सुनकर ये भोली-भाली व्रजकुमारियाँ कैसे अपनेको सम्हाल सकती हैं? हाँ, फिर उन्होंने जाकर अपनी बड़ी बहनोंसे पूछा, यह किसकी ध्वनि है? जबसे उन्होंने श्यामसुन्दरकी रूपमाधुरीका वर्णन करके उनके प्रेमिल स्वभाव, बाँसुरीवादन और नाना प्रकारके विहारोंकी बात इन्हें बतायी है, तबसे इन्हें और कहीं चैन ही नहीं पड़ती। बड़ी व्याकुलताके साथ गौओंको चराकर लौटने का मार्ग देख रही हैं।'

'देखो, उधर देखो, इनकी लालसा पूरी करनेके लिये नन्दनन्दन श्रीकृष्ण ग्वालबालोंके साथ बाँसुरी बजाते हुए इधरसे ही निकल रहे हैं। आगे-आगे झुण्ड-की-झुण्ड गौएँ हैं। पीछे-पीछे सखाओंकी भीड़ उन्हींके स्वर-में-स्वर मिलाकर गायन करती हुई उन्हींको देख देखकर प्रेमकी मस्तीमें छकी हुई चली आ रही है

काले-काले लंबे घुंघराले बालोंसे जङ्गली फूल गिरते जा रहे हैं। कपोलोंपर, वनमालापर, पीतपटपर, और बालोंपर भी गो-रज पड़ी हुई है। हाँ, वह देखो, बाँसुरी बजाते-बजाते एक बार मुस्कराकर प्रेमभरी दृष्टिसे उनकी ओर देख लिया। बस, अब क्या! ये सदाके लिये उनके हाथों बिक गयीं। उनके हृदयमें प्रेमका बीज बो दिया गया। इसी अवस्थाका नाम 'उप्त' है।'

'श्रीकृष्ण चले गये। अब नन्दरानी दूरसे ही दौड़कर उन्हें गोदीमें उठा ले गयी होंगी। न जाने क्या-क्या करके वे अपने लाड़िले लालकी दिनभरकी थकावट मिटाती होंगी। ये कुमारियाँ भी अब उन्हें पानेका यत्न करेंगी। अब आओ, हम दूसरे प्रदेशमें चलें।'

'देखो अभी यहाँ सूर्योदय नहीं हुआ है। अरुणकी अनुरागभरी रश्मियोंसे प्राची दिशाका मुँह लाल हो उठा है। उधर देखो, हेमन्त ऋतुकी इस सरदीमें कुछ छोटी-छोटी लड़कियाँ श्रीकृष्णके नामोंका मधुर सङ्कीर्तन करती हुई यमुनाकी ओर जा रही हैं। अभी तो इनके सोनेका समय है। परन्तु जिसे लगन लग गयी उसे नींद कहाँ? उसे भला अपने आत्माके प्राण मनमोहनको पाये बिना कल कैसे पड़ सकती है? इन्हें ठण्डकी परवाह नहीं, शरीरकी सुध नहीं और गुरुजनोंकी लाज नहीं। यह तो प्रेमकी पगली हैं। जानती हो, ये क्या करती हैं? इस कड़ाकेके जाड़ेमें नग्न होकर घटों यमुना जलमें स्नान करती हैं और बालूकी मूर्ति बनाकर कात्यायनी देवीकी पूजा करती हैं। इनका मन, उफ् कितना सीधा मन्त्र है! कैसी सरलताके साथ ये अपना मनोरथ देवीके सामने प्रकट करती हैं। जरा भी छल-कपट नहीं। कहती हैं "देवि! नन्दलाड़िले श्यामसुन्दर हमारे पति हो जायँ।" कितना सीधा मन्त्र है!'

'एक दिन हमारे मनमोहन सरकार इनपर कृपा करेंगे, इन्हें सर्वदाके लिये अपनायेंगे। उन्ह कोई चाहे और वे न मिलें, ऐसा तो हो ही नहीं सकता। वे प्रेम परवश हैं,—दयालु हैं और हैं बड़े भक्तवत्सल। इस अवस्थाका नाम है—'यत'। इसमें भगवान्‌को प्राप्त करनेकी *साधना बड़ी लगनके साथ चलती है।*'

'देखो, वह देखो, कुछ गोपवधूटियाँ एकत्रित होकर आपसमें बातचीत कर रही हैं। चलो, पाससे सुनें। इस प्रेमनगरमें भगवत्प्रेमके अतिरिक्त और कोई बात होती ही नहीं। ये गोपियाँ तो श्रीकृष्ण प्रेमकी मूर्ति हैं, इनकी बात सुननेमें बड़ा आनन्द है।'

'हाँ, सुनो, एक क्या कह रही है—

"सखी! यहाँकी हरिणियाँ कितनी भाग्यवती हैं, जो बिना किसी रोक-टोकके अपने पति कृष्णसार मृगाके साथ श्यामसुन्दरके पास जाती हैं और अपनी प्रेमभरी चितवनसे उन्हें निहार-निहारकर अपनी बड़ी बड़ी आँखोंका लाभ लेती हैं और उनकी पूजा करती हैं। उनका वह जीवन कितना धन्य है। और हम, हम अपने पतियोंके साथ नहीं जा सकतीं। काश, हम भी उसी योनिमें होतीं! तब हमें कोई न रोकता। परन्तु रोकनेसे क्या होता है? हम तो इन्हें निहारेंगी, अवश्य निहारेंगी। अब किसीके रोके नहीं रुकतीं।"

'सभी नारी-बारीसे कुछ कह रही हैं। कितना प्रेम है! जीवनमें यदि ऐसी लालसा लग जाय तो क्या पूछना है? फिर तो सर्वदाके लिये भगवान्‌का सान्निध्य प्राप्त हो जाय। देखो, वह देखो, कई गोपियाँ, अपने पतियोंके साथ विमानपर चढ़कर दर्शन करने आयी हुई देवाङ्गनाओंके सौभाग्यकी प्रशंसा करती हुई यमुनाकी ओर बढ़ रही हैं। ये यमुनामें स्नान करने और जल भरने तथा दही दूधके बेचने आदिका बहाना बनाकर प्रायः ही इधर आया करती हैं और मोहनकी मोहिनीकी

भावी किया करती हैं। इनका प्रेम धन्य है, इनके हृदयकी दशा अत्यन्त रमणीय है। इसका नाम है 'ललित'।'

'जब प्राणप्रियतमके दर्शन होते हैं तब तो आनन्द ही आनन्द रहता है, परन्तु यदि एक क्षणके लिये भी वियोग हो जाय तो असीम दुःख भी हो जाता है। कई बार ऐसा होता है कि श्रीकृष्ण कहीं तमालके वृक्षमें, लताओंमें, कुञ्जोंमें छिप जाते हैं और गोपियाँ बिना पानीके मछलियोंकी भाँति तड़फड़ाने लगती हैं। देखो, हम तो देख ही रही हैं कि वह आड़में खड़े होकर मुस्कुरा रहे हैं और उधर उस गोपीकी बुरा दशा हो रही है। मुँह पीला पड़ गया है। सिर झुक गया है। आँसू बहाती हुई आँखें इधर उधर चकपकाकर देख रही हैं। चुने हुए फूल गिर पड़े इसका तो क्या पता होगा, जब उसे अपने तनकी ही सुधि नहीं है। अब वह रोते-रोते मूर्च्छित ही होनेवाली है। पर भगवान् उसे मूर्च्छित थोड़े ही होने देंगे। आकर अभी अभी उठा लेंगे। परन्तु प्रेमकी यह दशा है बड़ी सुन्दर। इसे 'दलित' कहते हैं। जिसे यह प्राप्त हो जाय उसीका जीवन सफल है।'

'जब 'दलित' दशाका सच्चा प्रकाश होता है तभी भगवान् श्यामसुन्दर आकर मिल जाते हैं। उस दिनकी बात है— श्रीकृष्ण रासलीलासे अन्तर्धान हो गये। हम विकल होकर वन-वनमें भटककर ढूँढने लगीं। वृक्षों, लताओं, पशु-पक्षियोंतकसे पूछने लगीं। परन्तु कौन बताता है। वह तो हमारा पागलपन था। ढूढते-ढूढते हम अपने आपको भूल गयीं। बस केवल रोना ही-रोना अवशेष रहा। परन्तु उसी रोनेके अन्दर हमारे हृदयेश्वर प्रकट हो गये। कितना सुन्दर था वह क्षण! उन्हें देखते ही मानो मुर्देमें जान आ गयी हो, हम सब उठकर खड़ी हो गयीं। किसीने पीताम्बर पकड़ लिया। किसीने अपने हाथोंको उनके कन्धोंपर रखकर अपनी विशेष ममता प्रकट की। उस 'मिलित' दशाका वर्णन करना असम्भव है।'

'उस मिलनके पश्चात् तो हम सब भूलही गयीं। विरहका दुःख भूल गया और विरह भी भूल गया। उनकी रूपमाधुरीका पान करके कोई मस्त हो गयी, तो दूसरा हृदयके अन्तरतलमें उनके शीतल स्पर्शसे समाधिस्थ हो गयी, परन्तु यह समाधि योगियोंकी सी समाधि नहीं थी। इसमें आँखें बन्द तो थीं परन्तु इसलिये बन्द थीं कि कहीं हृदयमें विहार करनेवाले प्राणवल्लभ इन आँखोंके मार्गसे निकल न जायँ। इस संयोग सुखकी मस्तीको ही प्रेमियोंने 'कलित' दशा बतलाया है।'

'हाँ, तो उस दिनकी बात स्मरण करके हमारा हृदय गद्गद हो रहा है। सारा का सारा दृश्य आँखोंके सामने नाच रहा है। कैसा सुन्दर वह दृश्य था। सुनो, सुनो, मैं कहे बिना नहीं रह सकती।'

'श्रीकृष्ण के आनेपर सब गोपियाँ तो उनके अनुनय-विनय में लगी हुई थीं, परन्तु रासेश्वरी श्रीराधा? अरे उनके प्रेमकी असीमता तो फूटी पड़ती थी। विशेष ममताके कारण प्रणयरोषका भाव प्रकट करती हुई वह दूर ही खड़ी थीं। उनकी भौंहें चढी हुई थीं। अधर दाँतों तले दबे हुए थे और वे विह्वलता प्रकट कर रही थीं। फिर उनका बड़ा अनुनय विनय किया गया। स्वयं श्रीकृष्णने अपनी रूठी हुई प्राणेश्वरीको मनाया, तब जाकर कहीं प्रसन्न हुईं। यह प्रेमसरम्भकी 'छलित' दशा है। यह प्रेमकी बड़ी ऊँची स्थितिमें ही प्रकट होती है। हमारे जीवनमें भला भगवान्से रूठने की बात कैसे आ सकती है? हम डरती रहती हैं कि कहीं वे न हमसे रूठ जायँ। यद्यपि वे तो प्रेमस्वरूप हैं, भला कभी रूठ सकते हैं? परन्तु कभी-कभी इसकी वृद्धिके लिये रूठनेका-सा अभिनय कर बैठते हैं। उस समय हमें कितनी वेदना होती है, कह नहीं सकतीं। उस दिनकी बात है। उन्होंने रात्रिमें बाँसुरी बजायी और हम सब घर द्वार छोड़कर निकल पड़ीं। हाँ तो उस समय वे रूठे से बन गये। कहने लगे, घर लौट

जाओ। सखी ! यह बात स्मरण करके आज भी हम व्याकुल हो उठती हैं। उस समय मनमें यही एकमात्र इच्छा थी कि अब इस शरीरको रखकर क्या होगा। इसे इसलिये हम रखती हैं न कि यह प्रियतमके काममें आये, परन्तु जब उन्होंने इसे अस्वीकार कर दिया तो इसकी क्या ज़रूरत ? उन्हींका ध्यान करते-करते, उन्हींके विरहकी आगमें जलकर हम मर जायँगी तो अगले जन्ममें तो उन्हें पा सकेंगी। यही सब सोचते-सोचते गोपियाँ उस समय विचलित हो गयी थीं। हमारे जीवनमें उस समय प्रेमकी 'चलित' दशाका पूर्णतः उदय हो आया था। और उसी समय भगवान्‌ने हमें अपनाया। कितने प्रेमकी बात है ! कितने प्रेमी हैं वे !'

'यह बात तो बीचमें आ गयी थी। भगवान्‌के मिलनेपर उनकी अनुकूलता प्राप्त करनेपर हमें जिस परमानन्दकी उपलब्धि हुई, कही नहीं जा सकती। यमुनाके कपूरके समान चमकीले विस्तृत पुलिनपर हमने अपनी-अपनी ओढनी बिछा दी। वे मुस्कराते हुए उसपर बैठ गये। हम उन्हें घेरकर चारों ओर बैठ गयीं। किसीने उनके चरणोंको अपनी गोदीमें लेकर अपने हृदयसे लगा लिया, किसीने उनकी पूजा की। किसीने प्रश्न पूछे और वे बड़े प्रेमसे उत्तर देने लगे। हमारे उस सौभाग्यातिरेकको आकाशमण्डलमें टिटके हुए चन्द्रमा निर्निमेष नयनोंसे देख रहे थे, श्याममयी कालिन्दी अपनी कलकल ध्वनिद्वारा उसका गायन कर रही थी और हवा अधखिली कलियोंका सौरभ लेकर धीरे धीरे पखा झल रही थी। यह प्रेमकी 'क्रान्त' दशा थी।'

'मेरी प्यारी सखि ! मैं तुम्हें इसलिये इधर लायी थी कि तुम्हें प्रेमनगरके कुछ दृश्य दिखाऊँ, परन्तु मैं अपनी ही बातोंके कहनेमें इतनी तल्लीन हो गयी कि दिखाना ही भूल गयी। अब आओ, आगे चलें, तुम्हें विरहलीलाके विभागमें ले चलें। भगवान्‌की नित्य-

सहचरी गोपियोंका उनसे कभी वियोग नहीं होता, परन्तु भगवान्के विरहमें किस प्रकारका दुःख होता है और होना चाहिये, यह बात बतानेके लिये तथा संयोगात्मक रसराजकी पुष्टिके लिये वियोगके दृश्य भी होते हैं। आओ, ले चलूँ तुम्हें।'

'देखो, उस गोपीका दिव्य उन्माद तो प्रत्यक्ष हो रहा है न! एक ओर सन्देश लेकर आये हुए उद्धव स्तम्भित-से, चकित-से बैठे हुए हैं, दूसरी ओर वह भ्रमरकी गुनगुनाहटको ही भगवान्का सन्देश मानकर न जाने *क्या-क्या बक रही है।* इसके चित्र विचित्र जल्प सुनते ही बनते हैं। सुनो, सुनो, क्या कह रही है? भौंरेको अपने पास फटकने तक नहीं देती और उसे बार-बार डाँटती है कि तुम जाओ मथुरा, यहाँ तुम्हारी जरूरत नहीं। देखती नहीं हो क्या? चिन्ताके मारे सूखकर काँटा हो गयी है, आँखोंकी खुमारीसे साफ जाहिर होता है कि उद्वेगके मारे इसे नींद नहीं आती। शरीर और कपड़ों को धोनेकी याद ही नहीं। बार-बार बेसुध हो जाती है। मर-मरके जीती है। और वह भी केवल इसी आशामें कि कभी-न-कभी प्राणप्यारे श्रीकृष्णके दर्शन हो जायँगे। इसके मनमें केवल यही बात है कि शायद मेरे मर जानेके बाद वे आवें और मुझे न पा करके दुःखी हों। बस, केवल उनके सुखके लिये ही जीवित है, नहीं तो न जाने कब वह इस संसारसे उठ गयी होती। इसका नाम है 'विहृत' दशा।'

'अरे, देखो-देखो, अब इसका हृदय न जाने कैसा हो गया! कभी हँसती है, कभी रोती है, कभी मौन हो जाती है, मानो कोई पत्थरका टुकड़ा पड़ा हो। सुनो, क्या कह रही है—

'प्राणेश्वर! जीवनधन!! आओ, एक बार, केवल एक बार आओ। देखो, यह वही यमुना है न? जिसमें तुम जलविहार करते

थे। नाथ! यह वही कदम्ब वही लताओंका कुञ्ज, वही रात, वही वृन्दावन और वही म, परन्तु तुम, तुम कहाँ हो! आओ आओ,"

"हे नाथ! हे रमानाथ! व्रजनाथार्त्तिनाशन!
मग्नमुद्धर गोविन्द! गोकुल वृजिनार्णवात्॥'

"क्या तुम आओगे? सचमुच आकर मुझे उठा लोगे? हाँ, तुम अवश्य आओगे, आये बिना तुम नहीं रह सकते।"

'देखो, कहते कहते रुक गयी, अब बोला नहीं जाता। इसे प्रेमकी 'गलित' दशा कहते हैं, चलो पाससे चलकर देखें।'

'अरे यह क्या? इसका मुँह तो प्रसन्नतासे खिल उठा एक ही क्षणमें इसकी दशा ही बदल गयी। अब तो यह संयोग सुखसे सन्तृप्त मालूम पड़ती है। मस्तीके साथ उठकर तमालको गले लगा रही है। सच है। सच्चे विरहमें भगवान् अलग रह ही नहीं सकते अब इसके लिये सारा जगत् प्रियमय हो गया है। अब कभी एक क्षणके लिये भी इसे वियोगका अनुभव न होगा। अब 'त्रिभुवनमपि तन्मय विरहे' की सच्ची अनुभूति इसे प्राप्त हो गयी।'

'अब चलो, युगल सरकारकी उस कुञ्जके पास चलें जहाँ छोड़कर हम प्रेमनगर देखने चली आयी थीं। जब युगल सरकार निकलेंगे तब हम उन्हें निहार निहारकर निहाल होंगी। आओ, गाती हुई चलें—

इन नयननु छबिधाम बिलोकिय।
सखि! चलि बेगि प्रिया निकुञ्ज महँ युगलरासरस पीजिय।
इन नयननु छबिधाम बिलोकिय।

प्रेम-माधुरी

चलिये आप मेरे साथ वृन्दावन। शरीरसे नहीं तो मनसे ही सही। यह मत पूछिये कि वहाँ क्या है। वहाँ सब कुछ है— प्रेम है, सङ्गीत है, मिलन है, विरह है, योग है, शृङ्गार है। वहाँ क्या नहीं है? वहाँकी अनुरागमयी भूमिके कण कणमें एक दिव्य उन्माद भरा हुआ है। वहाँके पत्ते पत्तेमें एक विचित्र आकर्षण है। आप चाहते क्या हैं? आपकी जन्म-जन्मकी लालसा पूरी हो जायगी। वह तो सर्वस्व है। जीवन है वहाँ, रस है वहाँ, पूर्ण रसमें रहकर अतृप्ति है वहाँ। चलिये तो सही। वहाँकी दिव्य लताओंसे आलिंगित सरस रसालकी मञ्जरियोंके मकरन्दसे भरे हुए भौरोंको, जो अपनी चञ्चलता छोड़कर इस प्रकार उनसे लिपट गये हैं मानो कारागारमें कैद हैं जब मलयज वायु अपने कोमल करोंसे स्पर्श करती है, भौरोंके झूलेपर मस्त हुए मिलिन्दोंको आन्दोलित करती है और वे एक साथ ही अत्यन्त मधुर दिव्य संगीत गाते हुए मधु धारा प्रवाहित करनेवाली पुष्पवती लताओंकी ओर बढ़ते हैं, तब नव हृदयमें कितना आनन्द आता है, उन्हें देखकर सम्पूर्ण हृदय किस प्रकार रससे सराबोर हो जाता है— यह वहीं चल कर देखिये। आप भी श्रीरूपगोस्वामीके समान मधुर कण्ठसे कूक उठेंगे—

सुगन्धौ माकन्दप्रकरमकरन्दस्य मधुरे
विनिस्यन्दे वन्दीकृतमधुपवृन्दं मुहुरिदम्।
कृतान्दोलं मन्दोन्नतिभिरनिलैश्चन्दनगिरे —
र्ममानन्दं वृन्दाविपिनमतुलं तुन्दिलयति ॥

आमके बौरोंके सुगन्धित एवं मधुर मकरन्दके कारागारमें भौरोंको बन्द करके मलयाचलसे आनेवाली शीतल-मन्द-सुगन्धित वायुके द्वारा मन्द-मन्द आन्दोलित होकर वृन्दावन मेरे अनुपम आनन्दको सवर्धित कर रहा है।

वृन्दावनमें सबसे बड़ा आनन्द तो व्रजदेवियोंके दर्शनका है। वे गाँवकी गँवार ग्वालिनें प्रेमकी मूर्तियाँ ही हैं। नगरकी बनावट उन्हें छू तक नहीं गयी है। कितनी भोली हैं वे! उस दिव्य राज्यमें कपटका तो प्रवेश ही नहीं है। केवल उनका हृदय ही दिव्य नहीं है, शरीर भी दिव्य है। देखिये, सामने यह वृन्दावन है। कितना सुन्दर है यह धाम! परन्तु आप अभी धामको मत देखिये; यह सामने जो व्रजदेवी बैठी हैं, उनको देखिये। इस समय यह ध्यान कर रही हैं? अजी वृन्दावनमें श्रीकृष्णका ध्यान नहीं करना पड़ता। यहाँ तो वे ही इनका ध्यान करते हैं, इनके पीछे पीछे घूमते हैं। फिर ये इतनी तन्मयतासे किस साधनामें तत्पर हैं? अच्छा सुनिये, यह इनका भोलापन है। आप सुनकर हँसेंगे, परन्तु भावपूर्ण हृदयसे तनिक देखिये तो मालूम होगा कितना गम्भीर प्रेम है। इनका हृदय इनके हाथमें नहीं है, निरन्तर श्यामसुन्दरके पास ही रहता है। इनके हृदयमें श्रीकृष्णकी बाँसुरी बजती है, एक क्षणके लिये भी बन्द नहीं होती। ये प्रतिपल उनके मधुर संस्पर्श और रूप सुधाके पानके लिये आकुल रहती हैं। घरमें, वनमें, कुञ्जमें, नदी तटपर जहाँ भी ये रहती हैं, वहाँ इनका मन उसी चितचोर मोहनको देखनेके लिये मचलता रहता है। अब घरका काम-धन्धा कैसे हो? इन्होंने सोचा यह हृदय की [illegible] रहना तो अच्छी नहीं है, इसको अपने हाथमें करना चाहिये। [illegible] बिना योग किये यह वशमें कैसे हो? इसलिये आप योग [illegible] कितना आश्चर्य है? बड़े-बड़े मुनिगण प्राणायाम आदि [illegible] मनको विषयोंसे खींचकर जिनमें लगाना चाहते हैं, [illegible]

यह गोपी विषयोंमें लाना चाहती है। बड़े-बड़े योगी जिनको अपने चित्तमें तनिक-सा देखनेके लिये लालायित रहते हैं, उन्हींको यह मुग्ध गोपी अपने हृदयसे निकाल देना चाहती है! श्रीरूपगोस्वामीने क्या ही सुन्दर कहा है—

> प्रत्याहृत्य मुनिः क्षणं विषयतो यस्मिन् मनो धित्सति।
> बालासौ विषयेषु धित्सति ततः प्रत्याहरन्ती मनः॥
> यस्य स्फूर्तिलवाय हन्त हृदये योगी समुत्कण्ठते।
> मुग्धेयं किल पश्य तस्य हृदयान्निष्क्रान्तिमाकाङ्क्षति॥

परन्तु क्या इन्हें सफलता मिल सकेगी? ये निर्विकल्प समाधिमें स्थित हो जायँगी अथवा अपने मनको वशमें करके घरके कामकाजमें लगी रह सकेंगी। ना, इसकी तो सम्भावना ही नहीं है। इनका हृदय एक रंगमें रंगा जा चुका है, अब इसपर दूसरा रंग चढ़नेवाला नहीं। ये जो कुछ कर रही हैं वह तो इनके प्रेमका दिव्य उन्माद है। भला, श्रीकृष्णके बिना ये जीवित रह सकती हैं! इनका जीवन तो श्रीकृष्णमय है। आप पूछेंगे—भाई, ऐसा उच्च जीवन इन्हें कैसे प्राप्त हुआ? यह कथा भी बड़ी विचित्र है। गाँवकी बालिका, इन्हें बरसानेके बाहरका तो कुछ पता ही न था। एक दिन इन्होंने किसीके मुँहसे कृष्णका नाम सुन लिया। बस, फिर क्या था—पूर्वकी प्रीति जग गयी। 'कृष्ण' नाममें भी कुछ अद्भुत आकर्षण है। जिसके कानोंमें यह समा जाता है, वह दूसरा कुछ सुनना ही नहीं चाहता। वह तो ऐसा चाहने लगता है कि कहीं मेरे अरबों कान हो जाते। नामने इनपर मोहनी डाली, इन्होंने अपनेको निछावर कर दिया। किया नहीं, इनका हृदय स्वयं निछावर हो गया। एक दिन ये यमुनातटपर घूम रही थीं, मुरलीकी मोहक तान सुनकर मुग्ध हो गयीं। सखियोंने एक बार श्यामसुन्दरका चित्रपट दिखा दिया, आँखें

आमके बौरोंने सुगन्धित एवं मधुर मकरन्दके कारागारमें भौरोंको बन्द करके मलयाचलसे आनेवाली शीतल-मन्द-सुगन्धित वायुके द्वारा मन्द-मन्द आन्दोलित होकर वृन्दावन मेरे अनुपम आनन्दको सवर्धित कर रहा है।

वृन्दावनमें सबसे बड़ा आनन्द तो व्रजदेवियोंके दर्शनका है। वे गाँवकी गँवार ग्वालिनें प्रेमकी मूर्तियाँ ही हैं। नगरकी बनावट उन्हें छू तक नहीं गयी है। कितनी भोली हैं वे! उस दिव्य राज्यमें कपटका तो प्रवेश ही नहीं है। केवल उनका हृदय ही दिव्य नहीं है, शरीर भी दिव्य है। देखिये, सामने यह वृन्दावन है। कितना सुन्दर है यह धाम! परन्तु आप अभी धामको मत देखिये; यह सामने जो व्रजदेवी बैठी हैं, उनको देखिये। इस समय यह ध्यान कर रही हैं? अजी वृन्दावनमें श्रीकृष्णका ध्यान नहीं करना पड़ता। यहाँ तो वे ही इनका ध्यान करते हैं, इनके पीछे पीछे घूमते हैं। फिर ये इतनी तन्मयतासे किस साधनामें तत्पर हैं? अच्छा सुनिये, यह इनका भोलापन है। आप सुनकर हँसेंगे, परन्तु भावपूर्ण हृदयसे तनिक देखिये तो मालूम होगा कितना गम्भीर प्रेम है। इनका हृदय इनके हाथमें नहीं है, निरन्तर श्यामसुन्दरके पास ही रहता है। इनके हृदयमें श्रीकृष्णकी बाँसुरी बजती है, एक क्षणके लिये भी बन्द नहीं होती। ये प्रतिपल उनके मधुर संस्पर्श और रूप सुधाके पानके लिये आकुल रहती हैं। घरमें, वनमें, कुञ्जमें, नदी तटपर जहाँ भी ये रहती हैं, वहाँ इनका मन उसी चितचोर मोहनको देखनेके लिये मचलता रहता है। अब घरका काम-धन्धा कैसे हो? इन्होंने सोचा यह हृदय की विवशता तो अच्छी नहीं है, इसको अपने हाथमें करना चाहिये। यह कैसे हो? बिना योग किये यह वशमें कैसे हो? इसलिये आप योग कर रही हैं। कितना आश्चर्य है! बड़े-बड़े मुनिगण प्राणायाम आदि साधनोंके द्वारा मनको विषयोंसे खींचकर जिनमें लगाना चाहते हैं, उन्हींसे मनको हटाकर

यह गोपी विषयोंमें लाना चाहती है ! बड़े-बड़े योगी जिनको अपने चित्तमें तनिक-सा देखनेके लिये लालायित रहते हैं, उन्हींको यह मुग्ध गोपी अपने हृदयसे निकाल देना चाहती है ! श्रीरूपगोस्वामीने क्या ही सुन्दर कहा है—

> प्रत्याहृत्य मुनि क्षण विषयतो यस्मिन् मनो धित्सति ।
> नालसौ विषयेषु धित्सति तत प्रत्याहरन्ती मन. ॥
> यस्य स्फूर्तिलवाय हन्त हृदये योगी समुत्कण्ठते ।
> मुग्धेय किल पश्य तस्य हृदयान्निष्क्रान्तिमाकाङ्क्षति ॥

परन्तु क्या इन्हें सफलता मिल सकेगी ? ये निर्विकल्प समाधिम स्थित हो जायँगी अथवा अपने मनको वशमें करके घरके कामकाजमें लगी रह सकेंगी । ना, इसकी तो सम्भावना ही नहीं है । इनका हृदय एक रगमें रगा जा चुका है, अब इसपर दूसरा रग चढनेवाला नहीं । ये जो कुछ कर रही हैं वह तो इनके प्रेमका दिव्य उन्माद है । भला, श्रीकृष्णके बिना ये जीवित रह सकती हैं ? इनका जीवन तो श्रीकृष्णमय है । आप पूछेंगे—भाई, ऐसा उच्च जीवन इन्हें कैसे प्राप्त हुआ ? यह कथा भी बड़ी विचित्र है । गाँवकी बालिका, इन्हें बरसानेक बाहरका तो कुछ पता ही न था । एक दिन इन्होंने किसीके मुँहसे कृष्णका नाम सुन लिया । बस, फिर क्या था– पूर्वकी प्रीति जग गयी । 'कृष्ण' नाममें भी कुछ अद्भुत आकर्षण है । जिसके कानोंमें यह समा जाता है, वह दूसरा कुछ सुनना ही नहीं चाहता । वह तो ऐसा चाहने लगता है कि कहीं मेरे अरबों कान हो जाते । नामने इनपर मोहनी डाली, इन्होंने अपनेको निछावर कर दिया । किया नहीं, इनका हृदय स्वय निछावर हो गया । एक दिन ये यमुनातटपर घूम रही थीं, मुरलीकी मोहक तान सुनकर मुग्ध हो गयीं । सखियोंने एक बार श्यामसुन्दरका चित्रपट दिखा दिया, आँखें

निर्निमेष होकर रूप-रसका पान करने लगीं । इन्हें मालूम न था कि ये तीनों एक ही हैं । एक हृदयकी तीनपर आसक्ति ! इन्हें बड़ी व्यथा हुई । श्रीरूपगोस्वामीने इनकी मर्मान्तिक पीड़ाका इन्हींके शब्दोंमें वर्णन किया है—

> एकस्य श्रुतमेव लुम्पति मतिं कृष्णेति नामाक्षरं
> सान्द्रोन्मादपरम्परामुपनयत्यन्यस्य वंशीकलः ।
> एष स्निग्धघनद्युतिर्मनसि मे लग्नः पटे वीक्षणात्
> कष्टं धिक् पुरुषत्रये रतिरभून्मन्ये मृतिः श्रेयसी ॥

एक दिन किसी पुरुषका 'कृष्ण' यह दो अक्षरका नाम सुनते ही मेरी बुद्धि लुप्त हो गयी । दूसरे दिन किसी पुरुषकी वंशी-ध्वनि सुनते ही मैं उन्मादिनी हो गयी । तीसरे दिन वर्षाकालीन मेघके समान श्यामसुन्दर नवकिशोरको चित्रपटमें देखकर मेरा मन हाथसे बाहर हो गया । बड़े दुःखकी बात है । धिक्कार है मुझे ! तीन-तीन पुरुषोंसे प्रेम ! मर जानेमें ही अब मेरा कल्याण है ।

जब इन्हें मालूम हुआ की यह तीन नहीं हैं, एक ही हैं, तब कहीं इनके हृदयकी वेदना शान्त हुई । एक वेदना तो शान्त हो गयी; परन्तु दूसरी लग गयी । उसी दिनसे इनकी गति बदल गयी । वे कैसे मिलेंगे, इस चिन्तासे धैर्य लुप्त हो गया । बार-बार काँप उठतीं, सारे शरीरपर स्वेत-बिन्दु झलकते ही रहते, सखियोंसे यह बात छिपी न रही । उन्होंने एकान्तमें पूछा—सखी तुम्हें क्या हो गया है ? कौनसी ऐसी दुर्लभ वस्तु है, जिसके लिये तुम्हें इतनी चिन्ता हो रही है ? बार-बार तुम्हारे शरीरमें रोमाञ्च हो आता है, कभी आँसू तो कभी पसीना ! इतनी गम्भीर मुद्रा, जैसी कभी नहीं देखी ! ऐसा क्यों ? हम लोगोंसे क्या अपराध हो गया है कि अपने हृदयकी वेदना हमसे नहीं बता रही हो ? क्या हम तुम्हारी अपनी नहीं हैं ? अपने

लोगोंसे कोई बात छिपाना अच्छा नहीं है। यदि हम तुम्हारी कुछ सेवा कर सकें तो हमें उसका अवसर दो। हमें हमारे सौभाग्यसे क्यों वञ्चित कर रही हो? इन्होंने अपनी सखियोंसे अपने हृदयकी बात कही और उन लोगोंने इन्हें वृन्दावनके कुञ्जोंमें श्रीकृष्णके दर्शन कराये। क्या ही सुन्दर दर्शन था! ये श्रीकृष्णको देखकर बोल उठी थीं—

> नवमनसिजलीलाभ्रान्तनेत्रान्तभाजः
> स्फुरति सल्यमङ्गीगण्डकर्णाञ्चलस्य।
> मिलितमृदुलमौलेमल्लिया मालतीना
> मदयति मम मेधा माधुरी माधवस्य॥

नवीन प्रेमकी लीलाको प्रकट करनेवाले नेत्रोंकी चञ्चल चितवन, कपोलोंपर मनोहर पल्लवोंकी सुन्दर रचना, मुकुटपर मालतीकी माला—सब मधुर-ही मधुर! माधवकी यह माधुरी मेरे धैर्यका बाँध तोड़ रही है। मेरी मेधाको उन्मादिनी बना रही है।'

सचमुच ये उन्मादिनी हो गयीं, घरकी सुध भूल गयीं, अपने आपको भूल गयीं। परन्तु इनकी चेष्टा ज्यों-की-त्यों बनी रही। घरवाले बड़े चिन्तित हुए— 'यह क्या हो गया? इस रोगकी क्या चिकित्सा है? वैद्यकमें तो इसका वर्णन नहीं है। हो-न हो कोई बड़ा ग्रह लग गया है। सामने मयूरपिच्छ देखकर काँपने लगती है, गुञ्जाके दर्शन मात्रसे आँखोंमें आँसू आ जाते हैं, रोने लगती है। इसके चित्तमें अपूर्व नाट्यक्रीड़ाका चमत्कार उत्पन्न करनेवाला न जाने कौनसा नया ग्रह प्रवेश कर गया है, जिससे इसकी यह दशा हो रही है!'

> अग्रे वीक्ष्य शिखण्डखण्डमचिरादुत्कम्पमालम्बते
> गुञ्जानां तु विलोकनान्मुहुरसौ सास्रं परिक्रोशति।
> नो जाने जनयन्नपूर्वनटनक्रीडाचमत्कारिता
> बालाया किल चित्तभूमिमविशत् कोऽयं नवीनग्रहः॥

यह ग्रह और कोई नहीं है, श्रीकृष्ण ही हैं। जिसके चित्तमें वे प्रवेश कर जाते हैं, उसकी ऐसी ही दशा हो जाती है। वह न लोकका रहता है न परलोकका। कम-से-कम लोक और परलोकका स्वार्थ रखने वालोंके लिये तो वह बेकार हो ही जाता है। एक सखीने श्रीकृष्णके पास जाकर इनकी सारी कथा सुनायी। 'श्रीकृष्ण! यदि कहीं दूरसे भी प्रसङ्गवश तुम्हारे नामके अक्षर उसके कानोंमें पड़ जाते हैं, तो हमारी प्यारी सखी सिसक-सिसककर रोने और काँपने लगती है। और तो क्या कहूँ, संयोगवश नये नये श्याम मेघ उसके सामने आ जाते हैं तो वह उन्हें प्राप्त करनेके लिये इतनी उत्सुक हो जाती है कि तत्क्षण उसके चित्तमें पर प्राप्त करनेकी इच्छा हो आती है—

> दूरादप्यनुषङ्गतः श्रुतिमिते त्वन्नामधेयाक्षरे
> सोन्माद मदिरेक्षणा विरुवती धत्ते मुहुर्वेपथुम्।
> आः किं वा कथनीयमन्यदसिते दैवान्नवाम्भोधरे
> दृष्टे तं परिरब्धुमुत्सुकमतिः पक्षद्वयीमिच्छति ॥

नन्दनन्दन श्यामसुन्दरको जिसने एक बार भर आँख देख लिया उसको फिर तृप्ति कहाँ! वह तो उन्हें देखे बिना रह ही नहीं सकता। एक-एक क्षण कल्पके समान हो जाता है। प्रतिक्षण प्यास बढ़ती ही जाती है और बार बार मनमें यही आता है कि हा! अबतक श्रीकृष्ण नहीं आये, उनके बिना यह जीवन निस्सार है। श्रीकृष्णके आनेमें थोड़ा-सा विलम्ब होनेपर इन्होंने अपनी सखीसे कहा—

> असारण्य कृष्णो यदि मयि तवागः कथमिदं
> मुधा मा रोदीर्मे कुरु परमिमामुत्तरकृतिम्।
> तमालस्य स्कन्धे सखि कलितदोर्वल्लरिरियं
> यथा वृन्दारण्ये चिरमविचला तिष्ठति तनुः ॥

'हे सखी! यदि श्रीकृष्ण मेरे लिये निठुर हो गये, वे अब तक नहीं आये, तो इसमें तुम्हारा क्या अपराध है? तुम व्यर्थ उदास मत होओ, मत रोओ। आगेका काम देखो। ऐसा उपाय करो कि इस श्यामवर्ण तमालवृक्षके तनेमें मेरी भुजाएँ लिपटी हुई हों और मेरा यह शरीर चिरकालतक वृन्दावनमें ही अविचलरूपसे रहे।'

यहाँ इन व्रजदेवीकी यह दशा थी, उधर श्रीकृष्ण पश्चात्ताप कर रहे थे। वे सोच रहे थे— 'मैंने निष्ठुरता की। कहीं उनके कोमल हृदयका प्रेमाङ्कुर सूख न जाय। प्रेमके आवेशमें आकर वह कहीं शरीर न छोड़ दे। उसकी फली फूली मनोरथ लता कहीं मुरझा न जाय।' उन्होंने आकर देखा, तमाल वृक्षकी आड़में खड़े होकर देखा, यहाँ प्राणत्यागकी पूरी तैयारी है। व्रजदेवी कह रही हैं—

> यस्योत्सङ्गसुखाशया शिथिलिता गुर्वी गुरुभ्यस्त्रपा
> प्राणेभ्योऽपि सुहृत्तमाः सखि तथा यूयं परिक्लेशिताः।
> धर्मः सोऽपि महान् मया न गणितः साध्वीभिरध्यासितो
> धिग्धैर्यं तदुपेक्षितापि यदहं जीवामि पापीयसी॥

'जिसके उत्सङ्ग-सुखके लिये मैंने गुरुजनोंकी बड़ी लाज छोड़ दी, सखियो! जिनके लिये तुमलोगोंको, जो कि हमारे प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हो, इतना क्लेश दिया; जिनके लिये सती-साध्वी स्त्रियों-द्वारा अनुष्ठित महान् धर्मका भी मैंने आदर नहीं किया, उन्हींके द्वारा उपेक्षित होनेपर भी मैं जीवित हूँ। मैं पापिनी हूँ। मेरे धैर्यको धिक्कार है।'

इस प्रकार कहते-कहते व्रजदेवी तमालसे लिपटनेके लिये अधीरभावसे दौड़ीं; परन्तु यह क्या? तमालका स्पर्श भी कहीं इतना शीतल होता है? यह मधुर सरस्पर्श तो प्राणोंमें मृत्युके बदले अनुपम

जीवनका सञ्चार कर रहा है। आंख खोलीं तो देखा यह तो तमाल नहीं, श्रीकृष्ण हैं। एक साथ ही अनेकों प्रकारके भाव उठे और तत्क्षण विलीन हो गये। हृदयमें आश्चर्य, प्रेम और आनन्दकी बाढ़ आ गयी। शरीर स्थिर हो गया, आँख जम गयीं मानो अब देखते ही रहना है। ऐसी निधि पाकर उसे आँखोंसे ओझल कौन करे। निर्निमेष नयनोंसे रूप-रसका पान करने लगी। श्रीकृष्ण बहुत देरतक रहे—हँसे, खेले, बोले, अनेकों प्रकारकी लीला करते रहे, परन्तु वे बड़े खिलाड़ी हैं, आँखमिचौनी खेलनेमें तो उनका कोई सानी नहीं है। वे फिर आनेका वादा करके चले गये, वे वहाँ रहकर भी छिप गये, वे यहाँ रहकर भी छिपे हुए हैं। ऐसी ही उनकी लीला है। उनके जानेपर, सखियोंके बहुत सचेत करनेसे ये घर गयीं। परन्तु घरके कर्तव्योंको कौन सभालता, मन तो इनके हाथमें था ही नहीं। इन्होंने सोचा योग करनेसे मन वशमें होता है, चलो, अब योग ही करें। यह अपने चित्तको श्रीकृष्णके पाससे खींचनेके लिये, या यों कहिये कि श्रीकृष्णको अपने चित्तसे निकालनेके लिये योग कर रही हैं। परन्तु क्या यह सम्भव है? चित्तमें काई आ जाय तो उसे निकाल सकते हैं, चित्त कहीं चला जाय तो उसे खींच सकते हैं। देवी! तुम अब क्या कर रही हो यह? जो चित्त हो गया है, जिसके बिना चित्तकी सत्ता ही नहीं है, उसको तुम चित्तमेंसे कैसे निकाल सकोगी? अस्तु, यह भी तो प्रेम ही करा रहा है। प्रेमका ऐसा ही कुछ स्वरूप है।

नन्दनन्दन श्रीकृष्णका प्रेम जिसके चित्तमें उदय होता है, उसके द्वारा कितनी ही उल्टी-सीधी चेष्टाएँ होने लगती हैं। क्योंकि इसमें विष और अमृत दोनोंका अपूर्व सम्मिश्रण है। पीड़ा तो इसमें इतनी है कि इसके सामने नये कालकूट विषका गर्व भी खर्व हो जाता है। आनन्दका इतना बड़ा उद्गम है यह प्रेम कि अमृतकी मधुरिमाका

अहङ्कार शिथिल पड़ जाता है । श्रीरूपगोस्वामीने इसका वर्णन करते हुए कहा है—

> पीडाभिर्नवकालकूटकटुतागर्वस्य निर्वासनो
> निष्यन्देन मुदा सुधामधुरिमाहङ्कारसङ्कोचनः ।
> प्रेमा सुन्दरिनन्दनन्दनपरो जागर्त्ति यस्यान्तरे
> ज्ञायन्ते स्फुटमस्य वक्रमधुरास्तेनैव विक्रान्तय ॥

इतना ही नहीं प्रेमकी गति और भी विलक्षण है । क्योंकि प्रेम तो अपने-आपकी मस्ती है, उसमें किसी दूसरेकी अपेक्षा नहीं है । कोई कुछ भी कहे, सुने, करे, प्रेमी अपने ढगसे सोचता है । प्रियतमकी स्तुति सुनकर जहाँ प्रसन्न होना चाहिये, वहाँ प्रेमी कभी-कभी उससे तटस्थ हो जाता है, वह सब सुन-सुनकर उसके चित्तमें व्यथा होने लगती है । प्रियतमकी निन्दा सुनकर जहा दुःख होना चाहिये, वहाँ प्रेमी सुखका अनुभव करने लगता है— उन बातोंको परिहास समझकर । दोषके कारण उसका प्रेम क्षीण नहीं होता, गुणोंके कारण बढ़ता नहीं, क्योंकि वह तो आठो पहर एकरस एक सा रहता है । अपनी महिमामें प्रतिष्ठित अपने स्वरूप में टूबा हुआ नैसर्गिक प्रेम कुछ ऐसा ही होता है— कुछ ऐसी ही उसकी प्रक्रिया है । श्रीरूपगोस्वामीके शब्दोंमें—

> स्तोत्र यत्र तटस्थता प्रकटयच्चित्तस्य धत्ते व्यथा
> निन्दापि प्रमदं प्रयच्छति परीहासश्रियं बिभ्रती ।
> दोषेण क्षयिता गुणेन गुरुता केनाप्यनातन्वती
> प्रेम्णः स्वारसिकस्य कस्यचिदिय विक्रीडति प्रक्रिया ॥

प्रेम नगरकी रीति ही निराली है, स्थूल लोककी मर्यादाएँ उसके बाहरी फाटकतक भी नहीं फटक पातीं । अपने प्रियतमको अपने हृदयमें

निकालनेके लिये योग! भला, यह भी कोई प्रेम है? हाँ अवश्य ही यह प्रेम है। शुद्ध प्रेम है। इसीसे तो श्रीकृष्ण इनके बुलानेसे बोलते हैं, हँसानेसे हँसते हैं, खिलानेसे खाते हैं। श्रीकृष्ण इनके जीवन-प्राणसे एक हो गये हैं, वे अपने श्रीकृष्णको प्राणोंसे अलग करना चाहती हैं इसका अर्थ है कि वे उन प्राणोंको छोड़ देना चाहती हैं, कि जो बिना श्रीकृष्णके भी जीवित हैं। इनका यह योग तभीतक चल सकता है, जबतक श्रीकृष्णकी बाँसुरी नहीं बजती। जिस समय विश्व-विमोहन मोहनकी मुरली बज उठेगी, उस समय इनकी सब योग समाधि भूल जायगी। इतनी मधुरिमा है उसमें कि बड़े-बड़े समाधिनिष्ठ योगी इस बातकी अभिलाषा किया करते हैं कि वंशीकी मधुर-ध्वनि कब मेरी समाधि तोड़ेगी! वंशीध्वनिके सम्बन्धमें जानते हो न, यह क्या-क्या कर गुज़रती है इस ससारमें—

> रुन्धन्नम्बुभृतश्चमत्कृतिपरं कुर्वन् मुहुस्तुम्बरुं
> ध्यानादन्तरयन् सनन्दनमुखान् विस्मापयन् वेधसम्।
> औत्सुक्यावलिभिर्बलिं चटुलयन् भोगीन्द्रमाघूर्णयन्
> भिन्दन्नण्डकटाहभित्तिमभितो बभ्राम वंशीध्वनिः॥

'जब वंशी बजती है, तब बादलोंका गतिरोध हो जाता है। सङ्गीत सम्राट् तुम्बुरु गन्धर्व बार-बार चमत्कृत हो उठते हैं। सनक, सनन्दन आदिके हृदयमें रसका समुद्र उमड़ने लगता है और वे अपनी सब ध्यान-धारणा छोड़ बैठते हैं। ब्रह्मा चकित, स्तम्भित, विस्मित होकर कहने लगते हैं— मेरी सृष्टिमें इतना माधुर्य कहाँ!' रसातलके एकछत्र अधिपति दैत्यराज बलिका चित्त उत्सुकताकी परम्परासे अस्थिर हो जाता है। शेषनाग आघूर्णित होने लगते हैं। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंका घेरा तोड़-फोड़कर सम्पूर्ण जगत्में परिव्याप्त हो जाती है यह वंशीध्वनि।'

वंशीकी इस उन्मादक स्वर लहरीके स्पर्शसे अपनेको कौन नहीं भूल जाता ? इसीके द्वारा निखिल जगत्‌का चुम्बन करके श्रीकृष्ण एक गुदगुदी उत्पन्न किया करते हैं, सोये हुए प्रेमको जगाया करते हैं !

अभी जो यह ध्यान कर रही हैं, उनकी यह स्थिति है कि यह अपने चित्तको श्रीकृष्णसे अलग करना चाहती हैं और इनका चित्त अणु-अणुमें, परमाणु परमाणुमें श्रीकृष्णको ही देख रहा है । इनका प्रेमोन्मत्त चित्त प्रत्येक ध्वनिको श्रीकृष्णकी ध्वनि समझ रहा है । इनके हृदयकी आँखें श्रीकृष्णके ही मोहक रूपरसको पीकर छक रही हैं और नासिकामें वही उन्मादक दिव्य सुगन्ध भर रही है । इनके बार-बार मना करनेपर भी मन उन्हींके साथ क्रीड़ा करने लगता है और यह भी उसीमें तन्मय हो जाती हैं । घटोंतक आत्मविस्मृतिमें रहनेके बाद एकाध बार इन्हें अपनी अवस्थाका ध्यान हो आता है और तब यह अपने चित्तको उधरसे खींचना चाहती हैं । परन्तु यह योग-साधना क्या उन्हें श्रीकृष्णसे अलग कर सकती है । अजी, योग-साधनामें क्या रखा है, संसारकी कोई भी शक्ति इन्हें श्रीकृष्णसे अलग नहीं कर सकती । और तो क्या, स्वयं श्रीकृष्ण भी इन्हें अपनेसे अलग नहीं कर सकते ।

जानते हो इस समय श्रीकृष्णकी क्या दशा होगी ? इनका यह प्रेमोन्माद क्या उनसे छिपा होगा ? नहीं, नहीं, वे सब जानते हैं अपने प्रेमियोंकी अनिर्वचनीय स्थिति देखकर स्वयं मुग्ध होते रहते हैं । अपने प्रेमियोंके प्रेमको जगानेके लिये ही तो उनकी आँखसे ओझल हो जाते हैं । वे अब भी कहीं यहीं होंगे । इन व्रजदेवीकी जैसी प्रेममयी स्थिति है, वैसी ही उनकी भी होगी । उन्हें सर्वत्र गोपियोंका ही दर्शन होता होगा । अब वे आते ही होंगे । देखो न, वह आ रहे हैं । वह फहराता हुआ पीताम्बर, मन्द मन्द पद-विन्यास, हाथमें बाँसुरी, मेघश्याम

श्रीविग्रह, मन्द-मन्द मुसकान, प्रेमभरी चितवन, अनुग्रहपूर्ण भौंह, उन्नत ललाट, गोरोचनका तिलक, काले-काले घुँघराले बाल, मयूरपिच्छका मुकुट सब-का सब आँखोंमें, प्राणोंमें, हृदयमें और आत्मामें दिव्य अमृतका सञ्चार कर रहा है। देखो तो, कुछ गाते हुए आ रहे हैं। हम लोग अलग होकर सुनें और उनकी लीलाओंका आनन्द लें। अच्छा, क्या गुनगुना रहे हैं?

राधा पुरः स्फुरति पश्चिमतश्च राधा
राधाधिसव्यमिह दक्षिणतश्च राधा।
राधा खलु क्षितितले गगने च राधा
राधामयी मम बभूव कुतस्त्रिलोकी॥

मेरे सामने राधा है, मेरे पीछे राधा है, मेरे बायें राधा है, मेरे दाहिने राधा है, पृथिवीमें राधा है, आकाशमें राधा है— यह सम्पूर्ण त्रिलोकी मेरे लिये राधामय क्यों हो गयी?

पूज्यपाद श्रीरूपगोस्वामीके विभिन्न प्रसंगोंके श्लोक मैंने अपने ढंगसे बैठा लिये हैं, सहृदयजन मेरी इस ढिठाईपर ध्यान न दें।

परमार्थके पथपर

(१)

शरद्की पूर्णिमा। नीरव निशीथ। चारों ओर सन्नाटा। भगवती भागीरथीजी धवल धारा अपनी 'हर-हर' ध्वनिके साथ बह रही है। हिमालयकी एक छोटी-सी उपत्यकापर बैठा हुआ सुरेन्द्र मानो माँ गंगाजीकी लहरियोंसे कुछ बात कर रहा है। शरीर निश्चेष्ट, श्वासका पता नहीं। नेत्र निर्निमेष। परन्तु उसकी मूक भाषा मानो कुछ संकेत कर रही है।

माँ गंगे! तुम इतनी चञ्चल क्यों हो? तुम इतनी उत्सुकता-इतनी आतुरता लेकर किसके पास जा रही हो? क्या जिनके चरण-कमलोंसे तुम निकली हो उन्हीं क्षीराब्धिशायी श्रीविष्णु भगवानके चरणकमलोंमें समाने जा रही हो? अथवा जिन्होंने तुम्हें प्रेमोन्मत्त होकर अपने सिरपर धारण किया है, उन्हीं कैलासपति आनन्दघनविहारी श्रीकाशीविश्वनाथके चरण पखारनेके लिये इतनी आतुरतासे पधार रही हो?

माँ! तुम अपने पिता हिमाचल, हिमाचलके पुत्र वृक्ष, वनस्पति आदि भाई-बन्धुओं, अपने ही जीवनसे सिंचे वात्सल्यभाजन एवं आश्रितों और किनारे अपार धनराशिको छोड़कर कहाँ—किस उद्देश्यसे जा रही हो? एक बार मुड़कर पीछे देखती तक नहीं हो, तनिक ठहरकर किसीकी बात सुनती तक नहीं हो, मार्गमें पड़नेवाले महान् पाषाणों-बड़े-बड़े पर्वतों-चट्टानोंकी ज़रा भी परवाह नहीं करती हो।

जा रही हो मेरी माँ? क्यों जा रही हो करुणामयी? एक बार बोलो तो सही! हाँ, क्या कहा? क्या कह रही हो? हरि-हरि, हरि-हरि अथवा हर हर, हर-हर, बात तो ठीक है, अबतक मैं समझ नहीं रहा था। दोनों का एक ही अर्थ है।

अच्छा, मेरी दयामयी माँ! यह तो बताओ, मैं क्या करूँ? मेरा जीवन किधर जा रहा है? क्या मैं सचमुच तुम्हारी ही भाँति अपने लक्ष्यकी ओर द्रुतगतिसे बढ़ रहा हूँ? अभी तो मुझे अपने जीवनका स्वरूप ही अज्ञात है। क्या तुम अपने जीवनकी चञ्चलता प्रत्यक्ष करके मुझे उसकी सीख दे रही हो? प्यारी अम्माँ! सच्ची बात है, तुम मुझे सीख दे रही हो। जीवन चञ्चल है, गतिशील है, अस्थिर है। यह प्रतिपल बदल रहा है परन्तु एक-सा ही मालूम पड़ता है। अभी-अभी जो तरंग चन्द्रमाकी सुधाधवल किरणोंसे किलोल कर रही थीं, क्षणभरके संस्पर्शसे स्फटिककी भाँति चमककर इठला रही थीं, वे कहाँ गयीं? पता नहीं, वे कितनी दूर निकल गयी होंगी। उनके स्थानपर फिर दूसरी तरंग अठखेलियाँ कर रही हैं, अगले क्षणमें ये भी लापता हो जायँगी। तब क्या जीवनका यही स्वरूप है?

माँ, मेरी प्यारी माँ! वास्तव में जीवनका यही स्वरूप है। आश्चर्य तो यह है कि ध्यानसे—गम्भीरतासे देखा न जाय तो सब कुछ आँखोंके सामने होने पर भी कुछ समझमें नहीं आता। इसीसे तो इस चंचलताके अतल गर्भमें स्थिर रहकर तुम बड़ी गम्भीरतासे निरन्तर इस चञ्चलताका निरीक्षण किया करती हो। देवि! मुझे तो गम्भीर दृष्टि प्राप्त नहीं, कैसे निरीक्षण करूँ?

सचमुच जीवन एक खेल है। इसमें इतने प्रकारके दृश्य सामने आते हैं कि उन्हें स्मरण रखना असम्भव है। –

बात, एक दिनकी घटनावली भी पूर्णत और क्रमश स्मरण रखना कठिन है। चाहे जितनी सावधानीके साथ डायरीके पृष्ठ भरे जायँ, कुछ-न-कुछ अपूर्णता रहेगी ही। जीवनमें लाखोंसे मिलते हैं हजारोंसे सम्बन्ध करते हैं, सैकड़ोंसे उपकृत होते हैं और दस पांचके उपकारका भार अपने सिरपर भी बाँध लेते हैं। अगणित वस्तुओंके वर्णन सुने हैं, उनके दर्शन किये हैं, उनके संग्रह किये हैं और यथा-सम्भव लाभ भी उठाये हैं। परन्तु क्या उसका स्मरण है? जीवनकी अबाध बहनेवाली अगाध धारामें वे न जाने कहाँ बह-बिला गये। कुछका स्मरण भी है तो छायामात्र। वह भी केवल उन्हींका जिन्होंने हृदयपर कोई ठेस लगा दी या महान् उपकारके भारसे लाद दिया। केवल राग-द्वेषके चिह्न ही अवशेष हैं। उनकी स्मृति ही वर्तमान जीवन है। मन उन्हींके संस्कार-सागरमें गोते लगा रहा है। देखता हूँ, बार-बार देखता हूँ कि मन वर्तमान क्षणमें नहीं रहता। वह अतीतकी स्मृतियों से उलझा रहता है, अथवा उन्हींके आधारपर भविष्यका चित्र बनाकर उसीकी उधेड़बुनमें मस्त रहता है। तब क्या यही जीवन है, जिसे अपनी ही सुध नहीं, भूला-सा, भटका-सा अनजाने मार्गपर निरुद्देश्य-निराश और न जाने क्या-क्या हो रहा है।

मन-ही-मन यही सब सोचते-सोचते उसकी आँखें कब बन्द हो गयीं, इस बातका पता सुरेन्द्रको न चला। वह अपनी विचार-धारामें इस प्रकार डूब गया, मानो बाह्य जगत् हो ही नहीं सकता। वह संलग्न था जीवनकी तहमें छिपे हुए रहस्योंके ढूँढ निकालनेमें। चन्द्रमाने अपनी अमृतमयी किरणोंसे उसका सम्मान किया, वायुदेवने धीरे-धीरे उसकी थकान मिटानेके लिये पंखा झलना जारी रखा। परन्तु उसे इन बातोंका पता न था। सम्भव है, मालूम होनेपर उसके विचारोंमें बाधा ही पड़ती। परन्तु वह गम्भीर था।

(२)

सुरेन्द्र अभी पचीस वर्षकी अवस्थाका एक युवक था। विद्यार्थी जीवन समाप्त होते ही पिताकी मृत्यु हो जानेके कारण उसे व्यावहारिक जीवनमें आना पड़ा था। यहाँ आकर उसने देखा और खूब विचारसे देखा धर्मके नामपर अधर्म, सत्यके नामपर असत्य, सदाचारके नामपर कदाचार और परमार्थके नामपर स्वार्थ! भगवान्की ओरसे यह अमूल्य जीवन प्राप्त हुआ है, उनकी आज्ञासे न्याय एव सदाचारपूर्वक व्यवहार चलते हुए उनकी ओर बढ़नेके लिये, परन्तु आजकलके व्यवहारकी क्या दशा है? क्या वह भगवान्की ओर ले जानेमें सहायक है?

उसने बड़े-बड़े प्रसिद्ध पुरुषोंसे मिलकर उनसे शुद्ध सात्त्विक व्यवहारकी शिक्षा ग्रहण करनेकी चेष्टा की, परन्तु उसे अधिकांश अभिमान, दम्भ एव परमार्थके स्थानपर स्वार्थके ही दर्शन हुए। जहाँ कहीं कुछ भलाईकी बात मिली भी वहाँ सम्मान, प्रतिष्ठा और कीर्ति की लिप्साका साम्राज्य मिला। अवश्य उसे दो-चार सज्जन भी मिले, परन्तु या तो उसने भ्रमवश उन्हें पहले लोगोंकी भाँति दम्भी आदि मान लिया या उन्होंने उसके सुधारकी ओर दृष्टि ही नहीं डाली।

सुरेन्द्र को बड़ी निराशा हुई। वह सोचने लगा क्या ये बातें केवल किताबोंमें लिखनेकी अथवा व्याख्यान या उपदेशके समय लच्छेदार भाषामें कहनेकी ही हैं, इनके अनुसार आचरण करनेवाला कोई नहीं है? निष्काम कर्मयोग, अनासक्ति, भगवत्सेवा, परोपकार एव सेवा आदि क्या केवल, 'आदर्श' हैं? ये कभी जीवनमें नहीं उतरते? यदि जीवनमें ये उतरते हैं तो क्या इनके साथ काम, क्रोध, अभिमान आदि भी रह सकते हैं?

इन बातोंकी चिन्तासे, इन उलझनोंके न सुलझनेसे सुरेन्द्रका जीवन निराश हो गया। उसकी उदासीनता प्रतिदिन बढ़ती ही

गई । घरके कामकाजमें मन न लगता । मिलनेवालोंको देखकर बड़ी झुँझलाहट होती । वह जी चुराकर इधर-उधर लुक-छिपकर अपना विषादमय समय काट देता । दिन-का दिन बीत जाता, आधी रात हो जाती, भोजनकी याद न आती, पानी तक नहीं पीता ।

उसकी यह दशा देखकर एक महात्माको बड़ी दया आयी । सुरेन्द्रकी मानसिक स्थितिका उन्हें पूरा पता था । वे एक दिन एकान्तमें सुरेन्द्रके पास आये और उसे समझानेकी चेष्टा की । उन्होंने कहा—'भाई ! तुम इतने चिन्तित क्यों हो ? इस प्रकार अपना अमूल्य समय नष्ट करना क्या उचित समझते हो ? तुम आदर्श पुरुष ढूँढते हो ? ठीक है, वैसे पुरुषकी संसारमें बड़ी आवश्यकता है । परन्तु केवल इसी बातके लिये अपने जीवनके वास्तविक उद्देश्यको तो नहीं भूल जाना चाहिये । आदर्श पुरुषके ढूँढने या उसकी चिन्ता करनेमें तुम जितनी शक्ति एवं समय लगा रहे हो, यदि उन्हींका सदुपयोग करो तो तुम स्वयं आदर्श बन सकते हो । हाथ-पर-हाथ धरके बैठनेसे कोई लाभ नहीं, उत्साहके साथ उठो और आगे बढ़ो। इस संसारमें अनेकों बाधा विघ्न हैं, वे तुम्हें स्थिर नहीं रहने देंगे। यदि पूरी शक्ति लगाकर आगे न बढ़ोगे तो प्रमाद, आलस्य आदिके शिकार बन जाओगे । तुम एक मन्त्र याद रक्खो—'बढ़ो और आगे बढ़ो ।' महापुरुष ही स्थिर रह सकते हैं क्योंकि उन्हें स्थिर आलम्बन मिल गया है । जिनका आलम्बन स्थिर नहीं अर्थात् जिन्हें नित्य सत्य भगवान्का सम्बन्ध प्राप्त नहीं, वे वहीं स्थिर नहीं रह सकते । उन्हें आगे बढ़ना होगा या विवश होकर पीछे-पतनकी ओर हटना पड़ेगा। सम्हल जाओ, आगे बढ़ो, यह विषाद तमोगुण है । यह आगे बढ़नेके लिये आवश्यक होनेपर भी सर्वदाके लिये या अधिक समयके लिये वाञ्छनीय नहीं है ।'

सुरेन्द्र उनकी बात बड़े ध्यानसे सुन रहा था । उसे ये बातें

बड़ी अच्छी मालूम हुई । उसने सोचा अब इन्हींको आत्मसमर्पण कर दूँ, इन्हींकी आज्ञापर चलूँ, ये आदर्श पुरुष जान पड़ते हैं । परन्तु दूसरे ही क्षण उसका हृदय एक प्रकारकी आशंकासे भर गया । उसने विचारा—यह भी पहलेके लोगोंके समान हुए तो ? यह प्रश्न उठते ही काँप उठा । उसका मनोभाव महात्मासे छिपा न रहा । उन्होंने बड़े प्रेमसे कहा—' भाई ! मैं कब कहता हूँ कि तुम मुझपर या किसी व्यक्तिपर विश्वास करो । तुम केवल भगवान्‌की आज्ञापर विचार करो। उसीके अनुसार चलो । परन्तु चलो अवश्य । इस प्रमाद-आलस्यमय जीवनका परित्याग कर दो । '

सुरेन्द्रने आँखें नीचे करके कहा—' आखिर क्या करूँ ? भगवान्‌की आज्ञा कैसे प्राप्त हो ? सभी तो अपने-अपने मतको भगवान्‌की आज्ञा बताते हैं । '

महात्माजीने कहा—' भाई ! तुम्हें इन उलझनोंमें पड़ने की आवश्यकता नहीं । इन्हें सुलझानेके लिये तो विशाल अध्ययन, निर्मल बुद्धि, गुरुकृपा और लम्बे समयकी आवश्यकता है । क्या तुम गीतापर विश्वास रखते हो ? मैं आशा करता हूँ कि तुम्हें पूर्ण विश्वास करते हो। विश्वास होनेपर भी अपनी मानसिक कमजोरीके कारण उसके अनुसार आचरण नहीं कर पाते अथवा भाष्यों और टीकाओंके मतभेदोंसे भयभीत हो गये हो। यह तुम्हारे मनकी निर्बलता है । उसे अभी छोड़ दो। गीता माताकी शरण लो । वह अपने भूले हुए भोले बच्चेको अवश्य मार्ग दिखायेगी। गीताका स्वाध्याय करो, गीताका पाठ करो, गीताके एक-एक मन्त्रको अपने दिल-दिमागमें भर लो।

महात्माकी इस आदेशपूर्ण बातको सुनकर सुरेन्द्रको बड़ा ढाढ़स हुआ । उसने जिज्ञासाकी दृष्टिसे महात्माजीकी ओर देखा । उन्होंने कहा, "भैया ! अब विचार करनेकी आवश्यकता नहीं । देखो, तुम्हारा कितना समय बेकार जाता है । तुम दस मिनट मेरे कहनेसे और

बेकार बिता दो, अधिक नहीं केवल सात दिनोंके लिये मेरी बात मान लो। आजसे सोनेके पूर्व पवित्रताके साथ आर्त हृदयसे 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' (गीता २।७) वाली अर्जुनकी प्रार्थना सच्चाईसे करो। सात दिनोंमें ही तुम्हें भगवान्‌की आज्ञा प्राप्त होगी।"

'सात दिनोंमें ही भगवान्‌की आज्ञा प्राप्त होगी' यह सुनकर सुरेन्द्रको बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने उन वृद्ध महाराजके प्रति बड़ी कृतज्ञता प्रकट की। वे महात्मा मन-ही मन उसकी कल्याण-कामना करते हुए चले गये।

अब सुरेन्द्रको बड़ी उत्सुकता रहने लगी। सोते जागते निरन्तर ही उसे प्रतीक्षा रहने लगी कि देखें भगवान्‌की क्या आज्ञा होती है। चलते-फिरते जान अनजानमें कई बार उसके मुँहसे निकल पड़ता— 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।' दिनभरमें समय लगाकर गीताके दो-तीन पाठ भी कर लेता। भगवान्‌के नामका जप भी कुछ हो जाता। सात दिनोंमें ही उसके उद्वेग-अशान्ति और विक्षेप बहुत कुछ कम हो गये। उसकी श्रद्धा और बढ़ी। सातवीं रातको वह बड़ी एकाग्रतासे अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर प्रभुकी प्रार्थना करने लगा। 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' कहते-कहते उसके मुँहसे प्रार्थनाकी झड़ी लग गयी। वह न जाने क्या-क्या कब तक कहता रहा। भगवान्‌के सामने आर्तभावसे-सच्चे हृदयसे पुकारते-पुकारते उसकी आँखें बंद हो गयीं। कुछ देरके लिये झपकी सी लग गयी। उसे हम नींद नहीं कह सकते क्योंकि उस समय वह सत्त्वगुणके साम्राज्यमें था। वहाँ नींद कैसे पहुँच सकती है? तमोगुण वहाँ जा ही नहीं सकता जहाँ प्रभुकी प्रार्थना रहती है। नींदके मा-बाप तो आलस्य और प्रमाद हैं। अस्तु, यह जाग्रत् भी नहीं था, क्योंकि उसे बाह्यज्ञान बिल्कुल न था।

उसी समय उसने देखा कि वह एक दूसरे लोकमें चला आया है। यहाँके दृश्य तो सब मनुष्यलोकसे मिलते-जुलते हैं। परन्तु वहाँकी अपेक्षा यह स्थान अधिक निरापद, अधिक प्रसाद एवं पुष्टिजनक है। अपनेमें बलका अनुभव हुआ। इतनेमें ही एक वयोवृद्ध पुरुष इसके सामने उपस्थित हुए। उनके चेहरेसे महत्ता, प्रभाव, दया आदिकी प्रकाशमयी किरणें निकल रही थीं।

उन्हें देखते ही सुरेन्द्रका सिर उनके चरणोंपर बरबस झुक गया। उन्होंने अपने हाथों उठाकर सुरेन्द्रको बैठाया और उसके सम्हल जानेपर कहने लगे—'बेटा! दुःखी मत हो। सचमुच संसारका बन्धन बड़ा भयङ्कर है। इसमें बँधे हुए न जाने कितने अभागे जन्म-जन्मसे भटक रहे हैं। परन्तु इसके बनानेका उद्देश्य तो इसमें बाँधना न था, यह तो मुक्तिके लिये बनाया गया था। बड़े दुःखकी बात है—परिणाम उलटा हुआ। मुक्तिके स्थानपर बन्धन! उफ, इसीको तो माया कहते हैं, यही तो मोहका चक्कर है। इसमें आदर्श पुरुष बहुत-से हुए हैं, हैं और होंगे। उनका लक्षण यही है कि वे संसारमें रहते हुए भी इससे बँधते नहीं। वे भवसागरमें डुबकी लगाते हैं परन्तु भगवत्प्रेमकी रस्सी पकड़े रखते हैं। वे व्यवहार करते हैं परन्तु उनकी आँखें और उनकी वृत्तियाँ भगवान्‌में लगी रहती हैं। वे कर्ता-भोक्ता रहते हुए भी अकर्ता-अभोक्ता रहते हैं। उनका आधार मजबूत है। ऐसा करनेके लिये भगवदाशा है। परन्तु सब तो ऐसा नहीं कर सकते। इसके लिये बड़ी साधना, बड़ी तपस्याकी जरूरत है। दस-पाँच दिन सत्संग सुन लिया, दो-चार किताबें पढ़ लीं और निष्कामकर्मी-अनासक्त योगी हो गये, यह कोरा भ्रम है। इसके लिये त्यागकी, वैराग्यकी, भगवत्कृपाके अनुभवकी अपरिहार्य्य आवश्यकता है। अभी तुम युवक हो, आशावान् हो, शक्तिमान् हो। उठो, जागो, साधनामें लग जाओ। इस संसारको छोड़ो मत, इसे अपने काबूमें कर लो।'

सुरेंद्रने अञ्जलि बाँधकर कहा—'भगवन्! क्या साधना करूँ? मुझसे जो हो सके प्राणपणसे करनेको तैयार हूँ। आप कृपया उपदेश कीजिये।

महात्माजीने कहा—'वत्स! यह कलियुग है। आजकलके लोग अल्पायु, अल्पशक्ति और अल्पमति हैं। ज्ञान, ध्यान, योग और भक्ति यह सब इनसे सधनेके नहीं। इसीसे भगवान्‌ने इसको नामयुग कहा है। तुम भगवान्‌के नामजपमें लग जाओ। नामका जप, नामका कीर्तन, नामका पाठ, नामका ही अर्थानुसन्धान और नामका ध्यान करो। वेद, उपनिषद्, महाभारत, भागवत, रामायण आदि ये सब नामके ही भाष्य हैं। तुम सबके मूलका ही आश्रय लो।'

'परन्तु सम्भव है कि निरन्तर नाम रटनेमें ही पहले-पहले तुम्हारा मन न लगे। इसलिये तुम्हें एक कार्यक्रम बता देता हूँ। तीन महीनेतक इसके अनुसार काम करना, आगेकी आज्ञा फिर प्राप्त होगी।'

कार्यक्रम बताकर महात्माजी अन्तर्धान हो गये तब सुरेंद्रकी आँखें खुलीं। उसने देखा कि प्रार्थना करते-ही-करते एक झपकी आ गयी और ये सब हो गया। बस, उसी दिनसे वह महात्माजीकी बतायी साधनामें जुट गया। रात दिन एक ही धुन, एक ही लगन राम-राम राम राम राम। दूसरा शब्द मुँहसे निकलता ही न था। लोग कहते सुरेन्द्र तो पागल हो गया। सचमुच वह पागल था। अवश्य पागल था परन्तु उस अर्थमें नहीं जिसमें लोग कहते थे।

बात की बातमें तीन महीने बीत गये। चिन्तितके लिये एक दिन भी युग-सा हो जाता है। परन्तु जो काममें लगा है उसके लिये कई वर्ष भी कलकी बात सरीखे हैं। आज उसे स्वप्नमें आज्ञा हुई।

'सुरेन्द्र! तुम्हारी लगन सच्ची है। तुम्हारा अधिकार ऊँचा है। तुम्हें आध्यात्मिक विचारकी आवश्यकता है। तुम आदर्श चाहते हो न? चलो हिमालयमें, गङ्गातटपर। तुम्हारा कल्याण होगा।'

इसी आज्ञाके अनुसार सुरेन्द्र आज गङ्गातटपर आया हुआ है और माँ गंगासे न जाने क्या-क्या कहता हुआ तल्लीन हो रहा है, जान पड़ता है आज उसकी जिज्ञासा जग पड़ी है।

३

सिंहकी भयानक गर्जनासे सुरेन्द्रकी तल्लीनता भंग हुई। आँखें खोलकर देखा तो सामनेसे एक सिंह मन्थर गतिसे इधर ही चला आ रहा है। उसे ऐसा मालूम हुआ मानो स्वयं मृत्यु ही मूर्तिमान् होकर आ रही है। उसके सारे शरीरमें बिजली-सी दौड़ गई। वह सोचने लगा, क्या जीवनका यही अंतिम क्षण है? क्या अगले क्षणमें यह शरीर सिंहके मुँहमें होगा? परन्तु यहाँ आनेमें तो स्वप्नवाणीने मेरा कल्याण बताया था न! तो क्या मृत्यु ही कल्याण है? क्या मरनेके लिये ही यह जीवन प्राप्त हुआ है? अभी तो भावी सुखकी आशासे मैं यहाँ बैठा हुआ था, बीचमें ही मृत्यु की बात कैसी? क्या प्रत्येक क्षणमें मृत्यु सम्भव है? अरे, क्षणका तो अर्थ ही है मृत्यु। अच्छा, यह जीवन है क्षणमात्र। और क्षण मृत्युमय है। तब मृत्यु क्या है? क्या मृत्यु जीवनमय है? यह कैसे सम्भव है? यदि जीवन और मृत्युमें कोई भेद न होता तो लोग मृत्युसे इतना डरते क्यों? परन्तु विचारसे कोई भेद मालूम नहीं पड़ता। बुद्धि तो यही कहती है कि जीवन ही मृत्यु और मृत्यु ही जीवन है।

सिंह कुछ ठिठका हुआ-सा दूर खड़ा था। सुरेन्द्र जीवन-मृत्युकी मीमांसा कर रहा था। इस समय न उसे भूतकी चिन्ता थी और न तो भविष्यकी कल्पना। बचनेका न मौका था, न उपाय था

और न चेष्टा थी। वह जीवन और मृत्युकी सन्धिमें स्थित होकर दोनोंका ही अन्तस्तल देख रहा था। उसने देखा—परिवर्तनका एक महान् चक्र, गतिका एक अनादि अपार भँवर। उसी चक्रपर उसी भँवरमें सब नाच-रहे हैं। अणु, परमाणु, प्रकृति, वन, समुद्र, पर्वत, पृथ्वी, ज्ञात, अज्ञात, सिंह और स्वयं उसका जीवन सब कुछ प्रतिपल बदल रहे हैं, डूब-उतरा रहे हैं। डूबना प्रलय है, उतराना सृष्टि है। डूबना मृत्यु है, उतराना ही जीवन है। यह क्रम न जाने कबसे है। एक हो दूसरा नहीं, यह सम्भव नहीं।

अच्छा, तो इसमें कौन अच्छा है, कौन बुरा है? एक से ही हैं। अच्छे हैं तो दोनों, बुरे हैं तो दोनों। तब? तब दोनोंको समान रूपसे ग्रहण किया जाय या दोनोंका समान रूपसे त्याग किया जाय। परन्तु एक बात बड़े आश्चर्यकी है। इन दोनोंको समानरूपसे ग्रहण या त्याग करनेवाला मैं कौन हूँ? मैं स्पष्ट इनसे पृथक् अपनेको अनुभव कर रहा हूँ। तब क्या मैं जीवन-मृत्युसे परे हूँ? परन्तु परे होनेपर भी तो लोग जीवनसे सुखी और मृत्युसे दुःखी होते हैं। इसका कोई कारण तो नहीं दीखता।

सिंहके पैरकी आवाज पास जान पड़ी। एक बार शरीर काँप उठा। पर अब उसका मानसिक बल बढ़ गया था। सुरेन्द्रको एक भक्तकी बात याद आ गयी, जो काले नागसे डसे जानेपर उसे अपने प्रियतमका दूत कहकर प्यार करने लगा था। एक ज्ञानीकी स्मृति हो आयी जो बाघके मुँहमें भी उल्लासके साथ शिवोऽहम्-शिवोऽहम्की गर्जना कर रहा था। उसने अपनी आँखें खोल दीं। देखकर आश्चर्य चकित हो गया, अरे यह क्या? यह तो एक महात्मा थे!

सिंहके वेषमें सुरेन्द्रकी गतिविधिका निरीक्षण कर लेनेपर उन्होंने अपनेको उसके सामने मानव वेशमें प्रकट किया। बोले—'सुरेन्द्र!

देखो प्रातःकाल होनेपर आया है। चन्द्रदेव पश्चिम समुद्रके पास पहुँच गये। तुम मेरे साथ चलो—मैं तुम्हे 'बोधाश्रम' पर ले चलूँगा।'

सुरेन्द्र पीछे-पीछे चलने लगा।

(४)

उस स्थानसे बोधाश्रम दूर न था। पर्वतके ऊँचे-नीचे रास्तोंसे बात की-बातमें दोनों वहाँ पहुँच गये। भगवती भागीरथीकी प्रखर धारासे टूटकर एक बड़ा-सा शिलाखण्ड पड़ा था। कुछ तो उसकी बनावटके कारण और कुछ उसके पड़नेके ढगके कारण उसके नीचे एक बहुत ही सुन्दर स्थान निकल आया था। उसीमें महात्माजी रहते थे। बड़ा ही कोमल बालू उसमें बिछा हुआ था। आसपास ऐसे पत्थर पड़े हुए थे जिन्हें देखते ही उनपर बैठकर ध्यान करनेकी इच्छा हो जाती थी। सामने ही अपनी गम्भीर ध्वनिसे ज्ञान वैराग्य और भक्तिकी शिक्षा देती हुई देवनदी गङ्गा बह रही थीं। वह नाममात्रका आश्रम था। वास्तवमें तो प्रकृतिकी बनायी हुई एक गुफा थी।

यद्यपि पहाड़ोंकी ऊँचाईके कारण चन्द्रमा पश्चिम समुद्रकी गोदमें जाते-से दिखते थे तथापि महात्माजी और सुरेन्द्रके वहाँ पहुँचनेपर कुछ रात बाकी थी। महात्माजीने सुरेन्द्रको सम्बोधित करके कहा—'यह ब्रह्मवेला है। इसमें प्रकृति अत्यन्त शान्त रहती है। प्रकृतिके शान्त रहनेके कारण मन भी शान्त रहता है और वह तीव्र गतिसे अन्तर्देशमें प्रवेश करता है। भगवान्की प्रार्थना और चिन्तनका यह मुख्य समय है। तुम किसी शिलाखण्डपर बैठकर भगवान्का चिन्तन करो। यह आश्रम अत्यन्त पवित्र है। यहाँके वायुमण्डलमें एकाग्रता भरी है।'

महात्माजी सुरेन्द्रको भेज ही रहे थे कि एक तीसरे व्यक्तिने उस गुफाके द्वारपर आकर महात्माजीको साष्टांग नमस्कार किया। उसके अतर्कित आगमनसे सुरेन्द्र भी रुक गया। महात्माजीने उठकर आशीर्वाद दिया। उन्हें इतनी प्रसन्नता हुई मानो उनके आश्रममें स्वयं भगवान् ही पधारे हों। उन्होंने प्रेमसे पूछा—'भैया, तुम कबसे यहाँ आये हो? मेरा अनुपस्थितिसे तुम्हें कष्ट हुआ होगा? इस अनजाने पहाड़ी प्रदेशमें इतनी रातको कैसे आगये? तुम संक्षेपसे अपनी सारी बात कह सुनाओ।'

पूछते-पूछते महात्माजीने उस नवयुवकको-उस आगन्तुकको अपने पास ही बैठा लिया। सुरेन्द्र भी एक ओर बैठ गया। आगन्तुकने बड़ी नम्रतासे हाथ जोड़कर कहा—'महात्मन्! आज आपके दर्शन पाकर मैं कृतकृत्य हो गया। आपको ढूढ़ते-ढूढ़ते ही मैं यहाँ आया हूँ। यहाँ आनेका कारण क्या बताऊँ? एक प्रकारसे भगवान्की आज्ञा ही समझ लीजिये। अब मेरा जीवन सफल हो गया।' उसके चेहरेपर प्रसन्नताका विलक्षण प्रकाश छा गया।

सुरेन्द्र बहुत ही उत्सुक हो रहा था। महात्माजी भी उसका हाल जाननेके लिये पर्याप्त उत्कण्ठित हो रहे थे। उन्होंने कहा— 'भैया! तुम अपनी सब बात कहो, तुम्हें यहाँ आनेके लिये भगवान्की आज्ञा कैसे प्राप्त हुई? परन्तु भगवान्की लीला बड़ी अद्भुत, बड़ी मधुर होती है। वे न जाने कब कैसे क्या कर डालते हैं, उसके कहने-सुनने और स्मरण करनेमें बड़ा रस है, बड़ा आनन्द है। तुम उनकी लीला सुनाओ। आजकी ब्रह्मवेला इसी प्रकार व्यतीत हो।' कहते-कहते वे गद्गद हो गये। उनकी आँखोंसे आँसूकी कई बूँदें ढुलक पड़ीं।

आगन्तुकने कहा— 'भगवन्! मैं यहाँसे सुदूरपूर्व बंगालका रहनेवाला एक ब्राह्मण हूँ। भगवान्ने कृपा करके मुझे सांसारिक

सम्पत्तिसे बचा रक्खा है। मुझे धनके अभावका दुःख कभी हुआ भी नहीं। मैं अपने युगलसरकारकी पूजा करता था, प्रसन्न रहता था। गत जन्माष्टमीको एक ऐसी घटना घट गयी कि मुझे यहाँ आना पड़ा। मुझपर भगवान्‌की अपार कृपा है। उन्होंने ही मुझे यहाँ भेजा है। आप सब बातें सुनना चाहते हैं तो सुनिये। मुझे भी उनके स्मरणमें बड़ा आनन्द आता है।'

'हाँ, तो उस दिन भादोंकी कृष्णाष्टमी थी। मैं व्रत किये हुए था। मन अन्तर्मुख था। संसारमें कुछ सोचनेको था ही नहीं, रह-रहकर मनमें यह बात आती थी कि आज यदि भगवान् आ जाते। वे अंधेरी रातमें आते हैं। ठीक है, परन्तु मेरा यह जीवन भी तो अंधेरी रात ही है। ठीक-ठीक! वे दुष्ट दैत्योंके विनाशके लिये आते हैं। परन्तु मेरे हृदयमें क्या कम दैत्य हैं? तब वे क्यों नहीं आते? शायद इसलिये कि मेरे हृदयमें गोपियों-जैसा प्रेमका भाव नहीं है। फिर भी उनके आनेपर तो वैसा भाव हो सकता है। अवश्य, यदि वे आ जायँ तो उनके लिये आवश्यक सभी बातें हो सकती हैं। परन्तु वे कहाँ आते हैं? ऐसा भाव मनमें आते ही बड़ी निराशा हुई। हृदयमें बड़ी वेदना हुई। उस मर्मान्तक पीड़ासे मैं छटपटाने लगा। परन्तु वह घटी नहीं। सारा दिन आशा-निराशाके द्वन्द्वमें बीत गया।'

'सन्ध्या हुई। सब अपने-अपने ठाकुरजीको सजाने लगे। परन्तु मैं क्या सजाता! मेरे पास कुछ था ही नहीं। भगवान्‌के चरणोंपर कुछ फूल चढ़ाये। मिट्टीका एक दिया जलाया। अञ्जलि बाँधकर चुपचाप बैठ गया। फिर वही बात मनमें आयी-यदि भगवान् आ जाते! मैं अशान्त हो गया। परन्तु उस अशान्तिमें भी एक शान्ति विद्यमान थी। मेरी आँखोंसे आँसू गिरे, मैं छटपटाया और बेसुध हो गया। मानो मैं एक दूसरे ही लोकमें चला गया।'

'उस समय मेरी अन्तरात्मा स्वय मुझसे कह रही थी—' नरेन्द्र! (इस आगन्तुकका नाम नरेन्द्र था) तुम पागल हो। देखो, तुम जिस संसारमें रहते हो, उसमें भी भगवान् रहते हैं। उसमें भी पद-पदपर भगवान्को स्मरण करके आनन्दविभोर होनेका प्रतिक्षण अवसर है। लोगोंने भगवान्को भुला दिया है। जगत्को भगवानसे रहित मान लिया है, इसीसे इतने दुःख, अशान्ति और उद्वेगकी सृष्टि हो गयी है। जिस पृथ्वीपर तुम रहते हो उसे किसने धारण कर रक्खा है? उसकी धूलिमें खेलनेके लिये कौन अवतार लेता है! इन हरे-भरे वृक्षोंकी सुहावनी छायामें, लताओंके ललित कुञ्जमें कौन क्रीडा करता है? क्या इन्हें देखकर भगवान्की स्मृतिमें मग्न नहीं हो जाना चाहिये? जलको देखते ही क्या उस जलका स्मरण नहीं हो जाता जिस यमुना जलमें भगवान् विहार करते हैं अथवा जिस सागर-जलमें भगवान् सोते हैं? ये चन्द्र, सूर्य, तारा, और नक्षत्र चमक-चमककर किसकी आभा प्रगट करते हैं? इस वायुके स्पर्शमें किसके प्राणोंका प्रेममय स्पर्श प्राप्त होता है? यह नीला आकाश किसकी नीलिमाका दर्शन कराता है? ये सब भगवान्के प्रतीक हैं। इन सबके साथ भगवान्की स्मृति है। दुःख नहीं, उद्वेग नहीं चिन्ता नहीं। प्रेमसे सर्वत्र भगवान्का स्मरण करो, मस्त रहो।'

'अन्तरात्माकी यह ध्वनि सुनते ही मानो मेरा आँखोंपरसे एक परदा हट गया। मेरे सामने चारों ओर प्रकाश ही प्रकाश दीखने लगा। इस लोकसे अत्यन्त विलक्षण दृश्य मेरे सामने आ गया। मैं उड़ सकता था। मैं जड़ वस्तुओंसे बातें कर सकता था। और किसी बातका रहस्य शीघ्र से-शीघ्र समझ सकता था। मैंने देखा—

'बड़ा सुहावना समय था। न धूप थी, न अंधेरा। अनेकों सूर्योंका-सा प्रकाश था, परन्तु शीतलता भी प्रचुर मात्रामें थी। चारों ओर आनन्दकी धारा-सी बह रही थी। मेरे मनमें अचानक एक शंका हुई। काल तो बड़ा भयकर है। यह सबको खा जाता है। फिर आज

इतना कोमल क्यों बना हुआ है ? सबको मृत्युके मुखमें ढकेलनेवाला आज जीवन-दाता कैसे हो गया ? शंका उठते ही मैंने पूछ दिया "क्यों काल ! आज तुम ऐसे परिवर्तित कैसे हो गये ? मेरा दृष्टि-भ्रम है अथवा और कोई बात है ?" कालने प्रसन्नतापूर्वक कहा—"सचमुच आज मैं परिवर्तित हो गया हूँ। तुम इसका रहस्य जानना चाहते हो ? अच्छी बात है। सुनो, मैं तभी तक काल रहता हूँ, मैं तभी तक मृत्यु रहता हूँ जब तक भगवान्‌से मेरा साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता। आज भगवान्‌से मेरा साक्षात् सम्बन्ध होनेवाला है। कालके परे रहनेवाले भगवान् कालकी गोदीमें अर्थात् मेरी गोदीमें खेलनेको आ रहे हैं। अब मैं काल न रहूँगा, मृत्यु न रहूँगा। भगवान्‌से मिलकर, उनसे एक होकर सबके जीवनका कारण बन जाऊँगा। मेरा स्वरूप आनन्दमय, प्रेममय, मधुमय हो जायगा।"

'मैं कालके संसर्ग और आलापसे स्वयं चकित-स्तम्भित था। मैं उसके आनन्द और भगवत्सम्बन्धको सुनकर सोचने लगा था। जब आँखें खोलीं तब काल मेरे सामने न था। वह कहीं चला गया था। मैंने देखा—दिशाएँ हँस रही हैं, वे प्रसन्नतासे भर गयी हैं। मैं देखते ही सब रहस्य समझ गया। फिर भी मैंने एकसे पूछ ही लिया। "क्यों भाई ! आज इतनी सजावट क्यों ? यह साज-शृङ्गार किसलिये ?" एकने कहा—"आज हमारे सौभाग्यका दिन है। हमारे पति दिक्पाल दैत्योंके अत्याचारसे बहुत पीड़ित थे। वे उनके बन्दी हो गये थे। अब भगवान् आ रहे हैं। दस-बारह दिनोंमें (देवताओंका एक दिन-रात मनुष्योंका एक वर्ष होता है) हमारे पति स्वतन्त्र होकर हमारे पास आ जायँगे। इससे बढ़कर हमारे हर्षका और क्या कारण हो सकता है ! उन्हीं भगवान्‌के उपलक्ष्यमें हम आनन्द मना रही हैं।"

'मेरी दृष्टि ऊपर चली गयी। मैंने कहा—"धन्य हो प्रभो ! तुम्हारे आगमनसे सब प्रसन्न हैं, शीघ्र आओ। क्या तुम आकाश-

मार्गसे आओगे?" मैंने देखा नीला आकाश ताराओंसे जगमगा रहा है। ताराएँ बड़ी चंचलतासे अपने भाव बदल रही हैं। मैं शीघ्र ही उनके लोकमें पहुँच गया। ताराओंने मेरा बड़ा स्वागत किया। उन्होंने कहा-"यद्यपि हमारे पति द्विजराज चन्द्रमा हैं तथापि आज तुम हमारी प्रजा, वंशज नहीं हो। आज तो तुम हमारे अतिथि ब्राह्मण हो, तुम्हारी पूजा किये बिना हम नहीं रह सकतीं।" उन्होंने कहा-"आज हमारे चन्द्रवंशमें स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण आनेवाले हैं-आज त्रिलोकीमें हमारे जैसा सौभाग्यवान् और कौन होगा? ऐसे उत्सवके अवसरपर हम तुम्हारी पूजा किये बिना नहीं जाने दे सकतीं।" मैं चुप था। अन्दर ही-अन्दर प्रसन्न हो रहा था। पूजा कर लेनेपर एक ताराने कहा-"ब्राह्मणकुमार! तुम्हारी जो इच्छा हो माँगलो।" मैं तो यही चाहता था। मैंने निःसंकोचभावसे कहा-"हाँ, मैं एक बात माँगना चाहता हूँ। जिन श्रीकृष्ण भगवान्के आगमनके कारण इतना उत्सव मनाया जा रहा है, मैं उनका ही दर्शन चाहता हूँ। जिन श्रीकृष्ण भगवान्के दर्शनको सब इतने उत्सुक हैं, उनके दर्शनको मेरा मन लालायित हो रहा है।" वह तारा कुछ ठिठक गयी। उसने कहा-"तुम बड़े चालाक हो। इससे बढ़कर और कोई वस्तु संसार में है ही नहीं। परन्तु मेरा इतना अधिकार नहीं है कि मैं तुम्हें दर्शन करा सकूँ। और आज तो जेलखानेमें जन्म होगा, इसलिये वहाँ तुम्हारा प्रवेश नहीं हो सकता; परन्तु मैं एक उपाय बताती हूँ। तुम जाकर वहाँ फाटकपर रहना। वसुदेवजी जब श्रीकृष्णको गोदमें लेकर गोकुलकी यात्रा करेंगे तब तुम उनके पीछे-पीछे गोकुल चले जाना।" मैं उनका आशीर्वाद लेकर वहाँसे चल पड़ा।'

'नीचे उतरते ही मुझे शीतल मन्द सुगन्ध वायुका स्पर्श हुआ। मैंने कहा—अच्छा है, वहाँतक चलनेवाला एक साथी तो मिल गया। बातचीत का सिलसिला छेड़ते हुए मैंने कहा-"वायुदेव! तुम तो आज

बहुत प्रसन्न हो ऐसा मालूम पड़ता है। कुछ कहते चलो क्या बात है?" वायुने कहा—"भाई! पहले जब भगवान्‌ने रामावतार ग्रहण किया था, तब मैं एक प्रकारसे सेवासे वञ्चित ही रहा। मेरे पुत्र हनुमान ही उनकी सेवामें थे। तभीसे मेरी बड़ी अभिलाषा थी कि भगवान्‌का जब अवतार हो तो मैं स्वयँ सेवा करूँ! मैं जगत्‌का प्राण हूँ। मुझसे सेवामें त्रुटि नहीं होनी चाहिये। इसीसे सेवाका अभ्यास कर रहा हूँ। एक बात और है, इस बार भगवान् मेरा विशेष उपयोग करेंगे। वे मेरे ही द्वारा बाँसुरी बजायेंगे। जब ग्वालबालोंसे खेलते-खेलते गोपियोंके साथ नाचते-नाचते थक जायँगे, उनके कपोलोंपर श्रमविन्दु आ जायँगे तो मैं उन्हें धीरेसे पोंछ दूँगा, उसे सुखा दूँगा। यह काम कितनी कोमलतासे होना चाहिये! बस, इसलिये अभीसे अभ्यास कर रहा हूँ।"

'मैं वायुकी सराहना करने लगा। मेरे मनमें भाव उठा कि अन्तःकरण शुद्ध हुए विना भगवान्‌के दर्शनका सुअवसर नहीं मिलता। इसीसे वायु पहले विश्वकी सेवा करके अपना अन्तःकरण शुद्ध कर रहा है। इसे अवश्य भगवान्‌की सेवा प्राप्त होगी।'

'कुछ ही क्षणोंमें हम तारामण्डलसे चलकर मेघमण्डलमें आ गये। बहुत थोड़े-से बादल थे। समुद्रके पास मंद-मंद गर्जना कर रहे थे। वे समुद्र से कह रहे थे—"समुद्र! तुम्हारे अन्दर भगवान् रहते हैं, यह सोचकर हम तुम्हारे पास बार-बार आते थे कि तुम हमें भगवान्‌का दर्शन करा दोगे; परन्तु कभी तुमने हमारी प्रार्थना पूरी नहीं की। अब देखो, भगवान् स्वयँ हमारे-जैसे (मेघश्याम) बन कर आ रहे हैं। हमारा कितना सौभाग्य है? हम अपनी बूँदोंसे उन्हें नहलायेंगे अपनी छायामें उनकी सेवा करेंगे। हम धन्य हैं, हम धन्य हैं। मैंने सोचा—"आखिर बादल ही तो ठहरे! इन्हें समुद्रका कृतज्ञ होना चाहिये। अबतक समुद्र इन्हें जल देता रहा है, जिससे

विश्वकी सेवा करके ये अपना अंतःकरण शुद्ध कर सके हैं। भला समुद्रको उलाहना देनेसे क्या लाभ?" अब तक मैं पृथ्वीपर पहुँच चुका था।

"पृथ्वी मंगलमयी हो रही थी। वह सोलहों शृङ्गार करके अपने शिशु (मंगल) को गोदमें लिये आरती सजाये खडी थी। मैंने पूछा— "क्या है माँ?" उसका चेहरा प्रसन्नतासे खिल उठा। उसने कहा— "बेटा! वही मेरे एकमात्र स्वामी हैं। आज वे आ रहे हैं। उनके इस शिशुको उनके चरणोंमें समर्पित करूँगी। उनके चरणोंका स्पर्श प्राप्त करके धन्य होऊँगी। संसारके लोग जो कि मेरे ही धूलिकणोंसे, मेरे ही सामने पैदा होते हैं, और फिर चार दिन बाद मेरे देखते-देखते मेरे ही धूलिकणोंमें मिल जाते हैं, जब मुझे अपनी कहकर मेरा उपभोग करना चाहते हैं तो मुझे बड़ा कष्ट होता है, उन्हें मैं अपना बच्चा समझती हूँ यह दूसरी बात है, परन्तु उनकी धृष्टता तो देखो! उनका अज्ञान देखकर मैं दुःखी हो जाती हूँ। परन्तु जाने दो इन बातों को। आज मेरे स्वामी आ रहे हैं। मैं उनकी आरती करूँगी।"

'मैं बढ़ते-बढ़ते मथुरामें आ गया था। देखा, वहाँ असमय ही अग्निहोत्रकी बुझी हुई आग जल रही है। अग्निदेवकी लाल-लाल लपटें उठ-उठकर अपने स्वर्णमय अक्षरोंसे सूचित कर रही हैं कि हम भगवान्के मुखसे प्रकट हुई हैं। हमारा काम है देवताओंको भोजन देना। हम दैत्योंको भोजन नहीं दे सकतीं। इन दैत्योंने हमें बड़ा कष्ट दिया है। अब हमारे प्रभु आ रहे हैं! हमें इनके कष्टसे बचावेंगे। हमें अपने मुखमें स्थान देंगे। हम कृतकृत्य हो जावेंगी। आज हमारा जीवन सफल हो जायगा। मैंने सोचा, तभी तो इनका वर्ण स्वर्णमय है। भगवान्पर निष्ठा रखनेवाला ऐसा ही होता है। वह जगत्को प्रकाश देता है, शक्ति देता है और सुख देता है। उसके पास आते ही लोगोंके कष्ट धुल जाते हैं।'

'मेरे मनमें अग्निके अनेकों गुण आये। मैं जेलखानेके फाटकपर पहुँच गया। अभी आधीरात होनेमें कुछ विलम्ब था। पहरेदार सजग थे। मैं एक कोनेमें खड़ा हो गया। मैं सोचने लगा, भगवान् जेलमें क्यों अवतार लेते हैं? वे एक कैदीकी कोखसे क्यों प्रकट होते हैं? जिनके नामके उच्चारणमात्रसे सारे बन्धन दूर जाते हैं, उन भगवान्को पुत्ररूपमें पानेवाले बन्धनमें क्यों? मैं इन प्रश्नोंको हल करते-करते विचारमग्न हो गया। मुझे ऐसा जान पड़ा कि भगवान् अपनेको बन्धनमें अनुभव करनेवालेके पास ही प्रकट होते हैं। नियमोंका बन्धन ही मुक्तिका जनक है। सर्वथा निराश, उदास, पराधीन ही भगवान्के चिन्तनमें अधिक सफल होते हैं। जो अपनेको किसी बन्धनमें नहीं मानते, जो अपने बलपर नाचते हैं, और जो विषय-भोगोंकी मस्तीमें झूमते हैं, उनमें पूर्ण निर्भरताका होना कठिन है। जिनके लिये संसारका द्वार बन्द है, उनके लिये भगवान्का दरवाजा खुला है। कितने दयालु हैं प्रभु! मैं सोचते-सोचते तन्मय हो गया।'

'मुझे ऐसा अनुभव होने लगा मानो मेरी दृष्टि पारदर्शिनी हो गई है। मैंने देखा—देवकी वसुदेव हथकड़ी बेड़ीसे जकड़े हुए एक कमरेमें बन्द हैं। वे हाथ जोड़े खड़े हैं और सामने ही शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी भगवान् पीताम्बर धारण किये हुए बालकवेशमें मन्द मन्द मुस्कुरा रहे हैं। उनकी वह अलौकिक छवि देखकर मैं मुग्ध हो गया। मैं उनकी मधुर शब्दावली भी सुन रहा था। जब उन्होंने वसुदेवको गोकुल ले चलनेके लिये आज्ञा दी तब कहीं जाकर मेरी आँखें खुलीं। मैंने देखा, सचमुच उस समय सभी पहरा देनेवाले गहरी नींदमें थे।'

'एकाएक फाटक खुला। मैं पहलेसे ही टकटकी लगाये प्रतीक्षा कर रहा था। भगवान्को गोदमें लिये वसुदेव निकले। उनकी हथकड़ी-बेड़ी खुल चुकी थीं। क्यों न हो? भगवान् ही जो उनकी गोदमें

आगये थे ! अब भला, बन्धन कैसे ? एक सीमाके अन्दर एक चहार-दीवारीके भीतर वे कैसे रहते ? वे गोकुलकी ओर चले। मैं भी उनके पीछे पीछे चलने लगा। '

उस समय आकाशमें कुछ बादल घिर आये थे। वे नन्हें-नन्हें जलबिन्दुओंके बहाने भगवान्को अपना जीवन समर्पित कर रहे थे। कभी-कभी बिजली चमक जाती थी जिससे मैं गोदके उस विचित्र बालकके लाल-लाल तलवों और मुस्कुराते हुए मुखके लाल-लाल होठोंके दर्शन कर लेता था। शेषनाग ऊपरसे ही जलबिन्दुओंका निवारण कर रहे थे। मैं संकल्प-विकल्पहीन होकर उनका पदानुसरण कर रहा था। आँखें उन नाखूनोंकी ओर लगी थीं, जो उस अँधेरेमें भी कई बार चमक जाते थे। मेरी टकटकी तो तब टूटी जब यमुनातट आगया और उसकी उत्ताल तरंगोंने अपनी वज्र-कर्कश ध्वनिसे मुझे अपनी ओर आकर्षित किया। मुझे पहले तो बड़ा क्रोध आया। मैंने सोचा, वह भगवान्के मार्गमें विघ्न बन रही है। परन्तु दूसरे ही क्षण मैं सम्हल गया। मैंने सोचा, जिसके अन्तर्देशमें भगवान् आते हैं वह हर्षके कारण फूल ही उठता है, तो भला यमुना क्यों न फूले ! यह भगवान्की प्रेयसी हैं, मानिनी हैं, सम्भवतः रूठ गयी हों; परन्तु मुझे पीछेसे सच्ची बात मालूम हुई। वह शेषनागको देखकर डर गयी थीं कि कहीं कालियनागकी भाँति कोई दूसरा नाग न आ जाय ! इसीसे बढ़कर वे उसके आनेका विरोध कर रही थीं। '

' जब भगवान्ने अपने चरणोंसे स्पर्श करके उन्हें निर्भय कर दिया तब उन्होंने अपना हृदय खोलकर उनके सामने रख दिया। वे सूख गयीं। भगवान्के विरहमें उनकी क्या दशा हो गयी थी, किस प्रकार साँपोंने उन्हें अपना घर बना लिया था, यह सब बातें उन्होंने भगवान्पर प्रकट कर दीं। दयालु जो ठहरे। एक-न-एक दिन अपनोंगे ही।'

'नदका द्वार खुला हुआ था। यशोदा पलगपर सोयी हुई थीं। अब तक उनके पास 'माया' थी। वसुदेव भगवान्को यशोदाके पलगपर सुलाकर, मायाको लेकर चले गये। मैं वहीं एक कोनेमें खड़े होकर देखने लगा। भगवान् हँस रहे थे। क्यों हँस रहे थे? शायद इसलिये कि मैं जिसके पास जिससे सटकर हँस रहा हूँ, खेल रहा हूँ, वही सो रहा है। कितनी विडम्बना है! शायद इसलिये कि सब लोग माया छूटनेपर भगवान्को अपना लेते हैं, पर यशोदा सो रही है। क्षण भर बाद ही वे रोने लगे। मानो जीवकी इस दयनीय दशापर उनमें करुणाका भाव सञ्चार हो गया हो। मैंने सोचा— यह यशोदाको जगानेका उपक्रम है। मैं वहाँसे हट गया। बाहर निकल आया।'

'बाहर निकलते ही मेरे सामने एक बूढ़े देवता आ गये। वे देखनेसे ब्राह्मण मालूम पड़ते थे। अब मैं समझता हूँ कि वे साक्षात् शिव थे। उन्होंने मुझसे कहा— "अब तुम जाओ। आज भगवान्की बहुत-सी लीलाएँ देखीं। अब गगा-तटपर स्थित बोधाश्रमके महात्माके पास जाओ। उनकी कृपासे तुम भगवान्की और लीलाएँ देख सकोगे।"

'इतना कहकर वे अंतर्धान हो गये। मैं व्याकुल होकर उन्हें पुकारने लगा। पुकारते ही मेरी आँखें खुल गयीं। मैंने देखा, आधी रात बीत गयी है। जन्माष्टमीका प्रसाद ले-लेकर लोग घर जा रहे हैं और मैं अपने ठाकुरजीके सामने पड़ा हुआ हूँ। वही मिट्टीका दिया टिम-टिमा रहा है। मैं दूसरे ही दिन वहाँसे चल पड़ा। आज शरद्की पूर्णिमा थी। लगभग दो महीनेमें यहाँ पहुँचा। भगवन्! अब आपकी जो इच्छा हो कीजिये, मैं आपके शरणागत हूँ।'

भगवान्की लीला सुन-सुनकर महात्माजी और सुरेन्द्र दोनों ही मुग्ध हो रहे थे। सुरेन्द्र तो जड़वत् हो गया था। महात्माजीने कहा भैया! भगवान्की लीला ऐसी ही होती है। वे न जाने किस मिससे

जिसे चाहें दे देते हैं। मैं तो उनकी सृष्टिका एक तुच्छ जीव हूँ। मुझमें क्या शक्ति है? फिर भी उन्होंने तुम्हें भेजा है। वही तुम्हारा कल्याण करेंगे। देखो, हम सब भगवान्‌की लीला सुननेमें इतने तन्मय हो गये कि समयका ध्यान ही न रहा। सूर्योदय होनेवाला है। शीघ्र ही शौच स्नानादिसे निवृत्त होकर सन्ध्या करो, फिर हम सब मिलेंगे।'

(५)

भगवती भागीरथीका पावन पुलिन, मानो कर्पूरका विस्तृत चबूतरा हो। एक चौकोर शिलाखण्ड। उसपर बैठे हुए महात्माजी। स्वाभाविक ही स्वस्तिकासन लगा हुआ। सुरेन्द्र और नरेन्द्र पास ही बैठकर उनकी ओर एकटक देख रहे हैं। महात्माजीके शरीरसे शान्ति, आनन्द और पवित्रताकी प्रेम-मय धारा बह रही है। और वे दोनों उसमें डूब-उतरा रहे हैं सराबोर हो रहे हैं। मौनका साम्राज्य है। हिमालयका उत्तुङ्ग शिखर अपना सिर उठाकर चुपचाप देख रहा है। अनाहत नादके साथ अपनी स्वरलहरी मिलाकर गङ्गा अनवरत उन्मुक्त गायन कर रही है।

एक साधकने आकर महात्माजीको नमस्कार किया। उसके ऊँचे ललाटपर भस्मकी तीन रेखाएँ थीं, गलेमें रुद्राक्षकी माला और मुद्रा गम्भीर थी। उसके आते ही महात्माजीने आँखें खोल दीं। उन्होंने उसे मन्द मन्द मुस्कुराहटकी किरणोंसे नहला दिया। आनन्द की एक बाढ़-सी आ गयी। सुरेन्द्र और नरेन्द्रने भी इस साधकको प्रातःकाल एकान्तचिन्तन करते देखा था। उनके मनमें भी इसके सम्बन्धमें जिज्ञासा और उत्सुकता थी। अब उसके पास आ जानेके कारण वे बहुत प्रसन्न हुए।

महात्माजीने इस साधकको सम्बोधित करते हुए कहा—'ज्ञानेन्द्र! आज तो तुम ब्रह्मवेलामें ही चिन्तन कर रहे थे, इन दोनों (सुरेन्द्र, नरेन्द्र) के आनेका भी तुम्हें पता नहीं। बताओ, क्या सोचते रहे?

पहरेकी चोट लगती। मैं उसके स्पर्श, दर्शन और स्मरणसे भी घबड़ा उठता। मैं फँस गया, इतना फँस गया कि अपनेको छुड़ाना भी कठिन हो गया।'

'कहींसे आवाज आयी। मैंने स्पष्ट सुना—"तुम पहलेका लोभ, आसक्ति और कामना छोड़ दो तो दूसरेसे भी बच जाओगे।" शायद वह मेरी ही अन्तरात्माकी ध्वनि थी। कई बार मैंने छोड़नेकी चेष्टा की, परन्तु बार-बार उसकी ओर झुक गया। न जाने कहाँसे और कैसे वहीं आपके दर्शन हुए और आपने ज्यों ही कहा कि "तुम्हारा इनसे कोई सम्बन्ध नहीं, तुमने झूठमूठ यह आपत्ति अपने सिर मोल ले ली है त्यों ही मैंने अपनी आँख खोल दीं। न वे दोनों थे, न आप थे और न तो वह छाया ही थी। मैं जैसे ध्यान करने बैठा था वैसे ही ध्यान करता बैठा था। मैंने अपने मनकी यह स्थिति देखकर सोचा यह विक्षिप्त हो गया है। अब इस समय चिन्तन नहीं होगा। मैं गंगाके किनारे-किनारे टहलने लगा। इन घटनाओं का मेरी समझमें कोई अर्थ नहीं था, यह एक मनका पागलपन था।'

'मैंने गंगाकिनारे देखा। वह एक गुलाबका पौधा था। उसमें एक बड़ा सुन्दर फूल खिला हुआ था। आँखें उसपर लग गयीं। उसे देखनेमें बड़ा आनन्द आने लगा। मैंने सोचा इसे तोड़ लूँ और देखा करूँ। इसे सूँघूँ और इसके स्पर्शका आनन्द लूँ। ज्यों ही उसे तोड़नेको हाथ बढ़ाया त्यों ही मेरे हाथमें कई काँटे गड़ गये। हाथसे खून बहने लगा। परन्तु वह फूल पानेकी लालसासे मैंने काँटोंकी परवाह नहीं की। फूल मुझे मिल गया। बड़ी प्रसन्नता हुई। परन्तु कुछ ही क्षणोंके बाद वह कुम्हलाता-सा जान पड़ा। मैंने धूपसे, हवासे बचाकर उसे वैसा ही रखना चाहा परन्तु वैसा न रहा, न रहा। बड़ा दुःख हुआ।

'अब मैं विचार करने लगा, क्या दुःख-सुखका यही स्वरूप है! क्या प्रत्येक सुखके साथ दुःख लगा हुआ है? क्या अपने वास्तविक स्वरूप नित्यतत्त्वके अतिरिक्त और किसीकी ओर देखना ही दुःखका कारण है? मैंने क्या देखा था? अपनी ही छाया। वे अच्छे और बुरे उसी एकके दो पहलू थे। परन्तु मैं एकको चाहने क्यों लगा? दूसरेसे द्वेष क्यों हो गया? एकसे सुख और दूसरेसे दुःख क्यों माना? और माना ही नहीं फँस गया, बँध गया। और बँध गया सो ऐसा कि दोनोंको छोड़नेपर ही छूट सका। तब क्या जो हमें दीखता है, उसमें दो विभाग हैं ही, अथवा हम बना लेते हैं? अवश्य बनाते तो हम ही हैं, परन्तु जबतक दोनोंमें एकरस रहनेवाला तत्त्व पहचान न लिया जाय तब तक उसमें रमणीय-अरमणीय और सुख दुःखका भेद हो ही जायगा। ऐसी स्थितिमें अपनेसे अतिरिक्तको न देखना ही श्रेयस्कर है। इतनी बात समझमें आ गयी कि अपनेसे अतिरिक्त कोई सत्ता मानकर उसे पानेकी इच्छा-कामना करना और उसके लिये चेष्टा करना ही दुःखका कारण है, दुःखका मूल है और इस भूलका मिट जाना ही दुःखोंका अन्त हो जाना है। इस दुःखमें सासारिक सुख भी सम्मिलित हैं। मानो मेरे सामनेसे एक परदा हट गया। मेरे सामने सुख-दुःखका नग्न स्वरूप आ गया और मैं अपनेको, आत्माको उनसे परे अनुभव करने लगा।'

'मेरे मनमें एक दूसरी बात आयी। मैं सोचने लगा कि इतना सत्सग करता हूँ, चिन्तन करता हूँ, फिर भी एक सुन्दर-सा फूल या रूप देखकर उसके सौन्दर्यसे विचलित हो गया। यह सर्वथा भौतिक है। इसकी ओर तो मेरी दृष्टि ही नहीं जानी चाहिये थी। परन्तु उसे देखते ही मन खिंच गया। हम श्रवण करते हैं, मनन करते हैं, स्वर्गकी तो क्या बात ब्रह्मलोकके विषय भी हमारे लिए तुच्छ हैं। परन्तु इस तनिक से रूप-रसपर फिसल जानेवाला स्वर्ग और ब्रह्मलोकका त्याग कैसे करेगा? मेरे मनमें यह

प्रश्न इतने प्रबल वेगसे उठा कि मैं छटपटाने लगा। इतना दुर्बल मन लेकर मैं आत्मराज्यमें कैसे प्रवेश पा सकूँगा? इन तुच्छ विषयोंके क्षणिक प्रकाशमें ही अपनेको खो देनेवाला भगवान्‌के अनन्त स्वयंप्रकाश धाममें कैसे जा सकगा? मैं चिन्तित हो गया। शायद कुछ कुछ निराश भी। परन्तु उसी समय मुझे एक विलक्षण अनुभव हुआ।'

'मैं शरीरसे पृथक् होकर ऊपर उठने लगा। उस समय मैंने स्थूल जगत्‌को देखा। मेरा शरीर काठके समान पड़ा था। पृथ्वीके सभी जीव जड़ से दीख रहे थे। मैंने सोचा इसी जड़ शरीरके लिये इन्हीं जड़ वस्तुओंके लिये मैं सुखी दुःखी होता था। तो क्या आज इनसे मेरा सम्बन्ध टूट रहा है? मैं इनसे अलग हो रहा हूँ? परन्तु शरीरके साथ मेरा सम्बन्ध अब भी था। एक पतला-सा ज्योतिर्मय सूत्र शरीरके साथ मुझे सम्बद्ध किये हुए था। मैं च[illegible]र उठता जा रहा था। अनेकों योनियाँ देखीं। अनेकों मनु[illegible] देखे। भूत, प्रेत, पिशाच, पितर, गन्धर्व सभीको अपने- भोगते देखा। कहीं अन्धकार, कहीं प्रकाश, [illegible] परन्तु मैं केवल देखता जारहा था।'

'मैं एकाएक सूर्यलोकमें पहुँच गया। प्रकाश था। रात नहीं थी। अन्धकार भी दिव्य पुरुष निवास करते थे। उनके राजा उस समय उनके दोनों पुत्र शनैश्चर और यही दोनों मनुष्योंको लौकिक और [illegible] मैंने भोगकी अनेकों वस्तुएँ देखीं। वहाँ [illegible] राजरानी सज्ञा थी, जिनकी इच्छासे ही रक्खा जाता है। प्रकाशको देखकर मुझे मैंने सोचा—मेरा पृथ्वी कहाँ है, जिसपर

देखा तो कुछ अणुओंके अतिरिक्त मुझे कुछ और नहीं सूझा। मुझे बड़ी उत्सुकता हुई कि मैं जानूँ की मेरी पृथ्वी कहाँ है? भारतवर्ष कौन-सा है? मेरे शरीर और मेरी ममतास्पद वस्तुओंका क्या हाल है? परन्तु मुझे पता न चला।

'भगवान् सूर्यने मुझे अपने पास बुला लिया। उन्होंने कहा "भैया! तुम यहाँ आकर पृथ्वीकी स्थिति जानना चाहते हो? जिसे तुम बहुत बड़ी पृथ्वी समझते हो, वह यहाँकी दृष्टिसे सरसो-बराबर भी नहीं है। मेरे सामने ही न जाने कितनी ही पृथ्वियाँ पैदा होती हैं, घूमती रहती हैं और मेरे लोकमें समा जाती हैं। तब तुम पृथ्वीपरकी किसी वस्तु अथवा शरीरकी स्थिति कैसे जान सकते हो? जैसे वहाँके वैज्ञानिक सूक्ष्म यन्त्रोंद्वारा एक कणके परमाणुओंका पता लगाते हैं वैसे ही यहाँसे पृथ्वीरूपी कणके परमाणुओंका पता चलता है।" मेरे प्रश्नका उत्तर मिल गया। मै विचार करने लगा कि जब मनुष्य इतनी छोटी सी वस्तु है तब वह अपने शरीर, सम्पत्ति आदि पर अभिमान, मद क्या करता है? मैं पृथ्वीकी तुलना सूर्यलोकसे करने लगा। मुझे ऐसा मालूम हुआ मानो यही परम धाम है, यही परम सुख है और सूर्य ही त्रिलोकीके स्वामी हैं। मेरे मनमें आया कि अब यहीं रहना चाहिये। पृथ्वीमें जाकर क्या होगा?'

'परन्तु मेरे मनमें जिज्ञासा बनी हुई थी। सूर्य मुझे देखकर हँस रहे थे। उन्होंने कहा—"भूलोकमें तो तुम रहते ही हो। वहाँसे मेरे लोकमें आनेके समय जो कुछ तुमने देखा है, वह अन्तरिक्ष अथवा भुवर्लोक है। मेरा लोक प्रकाशका लोक है, रूपका लोक है। परन्तु यहाँ परम सुख नहीं है। हमसे अच्छे तो हमारे राजा इन्द्र हैं। जाओ, मैं तुम्हें शक्ति देता हूँ कि तुम इन्द्रलोकमें जा सको। तुम यहीं रह जाते, परन्तु तुम्हारे मनमें परम सुखकी जिज्ञासा बनी है, इसलिये तुम यहाँ नहीं रुक सकते।" मैं उनसे शक्ति पाकर आगे बढ़ा।'

'विषयोंकी दृष्टिसे यदि कहना हो तो मैं कह सकता हूँ कि उतने अच्छे और सुन्दर विषयोंकी मैंने कभी कल्पना भी नहीं की थी जितने अच्छे विषय मैंने सूर्यलोकसे चलनेपर देखे। सूर्यलोकमें केवल रूप था, परन्तु आगे चलनेपर तो रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श सब के सब बहुत ही सुन्दर-बहुत ही मधुर थे। मैं उन्हें देखकर आश्चर्यचकित हो गया। वहाँ कुछ करना नहीं पड़ता। इच्छा करते ही मनचाही चीज सामने आ जाती। भोगकी इतनी प्रचुरता कभी मेरी कल्पनामें भी नहीं आयी थी। ससारके जिन भोगोंसे मेरी आसक्ति थी उनकी असारता तो यहा जाकर समझमें आयी। नन्दनवन देखा, अमरावती देखी, अप्सराएँ देखीं, देवताओंके दिव्य देश देखे। तब क्या यही परम सुख है? क्या यहीं सुखोंकी पूर्णता है? मेरे मनमें एकाएक यह प्रश्न जाग उठा।'

'मेरे सामने देवता उपस्थित हुए। उन्हें मैंने श्रद्धा-भक्तिसे प्रणाम किया। उन्होंने प्रेमसे कहा—' भैया, तुम्हारी जिज्ञासा पूर्ण हो। उसीके कारण इन भोगोंसे तुम्हारी रक्षा हुई। नहीं तो इनसे बचकर जाना कठिन है। जिन भोगकी सामग्रियोंको यहाँ तुम देखते हो, ये यों तो कल्पभर तक रहती हैं, परन्तु इन्हें पूरा पूरा कोई भोग नहीं सकता। अपने-अपने पुण्यके अनुसार सब न्यूनाधिक भोग करते हैं। कम भोगनेवाले अधिक भोगनेवालोंसे ईर्ष्या करते हैं, अधिक भोगनेवाले कम भोगने वालोंसे घृणा। दैत्योंके आक्रमण हुआ ही करते हैं। पुण्य क्षीण होनेपर गिरना ही पड़ता है। उस समय उन्हें कितनी पीड़ा होती है। और यह है ही कितने दिनोंका? यहाँका कल्प ब्रह्माका एक दिन है। जिसे तुम एक कल्प कहकर बहुत बड़ा समझते हो वह यहाँ चुटकी बजाते-बजाते बीत जाता है। इसमें रक्खा ही क्या है? आगे बढ़ो और भोगोंकी क्षणिक चकाचौंधमें मत भूलो। देखो, यहासे आगे ही ध्रुवलोक है। यह भगवद्भक्तिका एक छोटा-सा फल है।'

'मैं भुवर्लोकमें पहुँचा। ध्रुव बड़े सरल बड़े ही मिलनसार। उन्होंने बड़े प्रेम और बड़ी प्रसन्नतासे मेरा स्वागत किया। उन्हें इतना आनन्द हुआ, मानो स्वयं भगवान् ही उनके घर आ गये हों। उन्होंने मुझसे कहा— "भाई! मैं बड़ा ही नीच हूँ, मैंने भगवान्को प्राप्त करके भी सम्मानका वरण किया। सूर्य देवता और बड़े-बड़े ऋषि-मुनि मेरी प्रदक्षिणा करते हैं, मैं बहुत ऊँचे स्थानपर हूँ। परन्तु मुझे कभी कभी अब भी पश्चात्ताप हो आता है। मेरे मनमें वासना न होती तो भगवान् यह सब क्या करते? परन्तु इसमें भी उनकी दया होगी। वे जैसे रक्खें, वैसे ही रहना है। सर्वत्र उनका दर्शन, उनका स्पर्श प्राप्त होता रहे, यही वाञ्छनीय है।"

'मैंने देखा—यहाँ भोगोंकी छाया भी नहीं है। है सब कुछ, परन्तु भोग-बुद्धि नहीं है। स्वर्गमें जहाँ सभी भोगोंकी ओर बह रहे थे वहाँ भुवर्लोकमें सभी सन्तुष्ट, निष्काम और भगवान्की आज्ञाके अनुसार चलनेवाले थे। यहाँकी शान्ति, आनन्द देखकर मेरी इच्छा हुई कि यहीं रहूँ। यहीं परम सुख है। ध्रुवने कहा—"यहीं परम सुख नहीं है, आगे बढ़ो—महर्लोक, जनलोक, और तपलोकमें बड़े-बड़े योगी, ज्ञानी तथा भगवत्परायण सन्त रहते हैं। इन्हींमें ब्रह्माके पुत्र सनक, सनन्दन आदिके भी दर्शन होंगे? यहाँ क्या है? यह तो उनके चरणधूलिकी महिमा है। जाओ, तुम्हें उनके दर्शनसे बड़ी शान्ति मिलेगी।" मैं ऊपर उठने लगा।'

'मैंने कितने सुन्दर-सुन्दर दृश्य देखे, कह नहीं सकता। बड़ी-बड़ी अमृतकी नदियाँ, रत्नोंके पर्वत, कल्पवृक्षोंके वन अनुरागके रंगमें रँगी हुई शान्त एवं दिव्य भूमि। मनोहर पक्षियोंका मधुर कलरव, भौरोंकी गुंजार और कहीं-कहीं वीणा, वेणु और मृदंगके अनाहत नाद? मैं इस सबको देख-सुनकर मुग्ध हो रहा था। सबसे बढ़कर आश्चर्य तो मुझे तब हुआ जब मैंने देखा और जाना कि वे समाधि लगाये

हुए लोग हजारों वर्षसे यहाँ बैठे हैं, और इन वस्तुओंकी ओर अनासक्तभावसे भी नहीं देखते। इन्द्रलोकमें लोग भोगोंमें आसक्त थे। ध्रुवलोकमें अनासक्तभावसे विषयोंका उपभोग कर रहे थे। यहाँ सब अपने आपमें ही मस्त थे, भगवद्भावमें ही मग्न थे, बाहर आँख खोलकर कोई देखता तक नहीं था। मैं बराबर ऊपर खिंचा जा रहा था। इन सिद्ध-सन्तोंको देख-देखकर मेरे मनमें भिन्न-भिन्न प्रकारके भाव उठ रहे थे।'

'कुछ ही क्षणोंमें मैं एक ऐसे स्थानपर पहुँच गया, जहाँ केवल शान्ति-ही शान्ति थी, आनन्द-ही-आनन्द था। मैंने सोचा—अबतक मैंने जितने लोक देखे हैं, उनसे जान पड़ता है कि यही सर्वोत्तम लोक है और यहीं परम सुख है। मेरे सामने पाँच-पाँच वर्षके चार बालक खेलते-कूदते प्रकट हुए। उनके शरीरपर वस्त्र नहीं थे, और मुखसे 'श्रीहरि शरणम्' का बराबर उच्चारण हो रहा था। ध्रुवकी बात मुझे याद आयी। मैंने समझ लिया कि ये सनक-सनन्दन आदि हैं। उनके चरणों पर गिरने ही जा रहा था कि उन्होंने हँसते हुए मुझे उठा लिया।'

'उन्होंने कहा—"भैया! यही परमधाम अथवा परम-सुख नहीं है। इसके ऊपर ब्रह्मलोक है। उनकी सभा देखोगे, वहाँका साज-शृङ्गार देखोगे तो तुम्हें ये सब लोक तुच्छ जँचेंगे। वहाँ शान्तनु भीष्म, पृथु, गय आदि राजर्षि, वशिष्ठ आदि महर्षि सभासदके रूपमें रहते हैं। सारे ब्रह्माण्डकी रचना, व्यवस्था और प्रबन्ध वहींसे होता है। जैसे इन्द्रके एक जीवनमें ही मनुष्योंके हजारों जीवन हो जाते हैं, वैसे ही ब्रह्माके एक जीवनमें हजारों इन्द्र हो जाते हैं। जिन्हें एक कल्पके अधिपति कहकर तुम लोग बड़ाई देते हो, उन इन्द्रका जीवन ब्रह्माके दिनके केवल एक दिन है। ऐसे दिनोंके हिसाबसे ब्रह्माकी आयु सौ वर्ष है। वे प्रतिदिन जब रात्रिमें सोते हैं तब इस ब्रह्माण्डका प्रलय हो जाता है, जब वे प्रातःकाल

जागते हैं तब पुनः सृष्टि होती है। इस प्रकार अब तक तुम जो कुछ देख-सुन और अनुभव कर सके हो, ब्रह्माके एक दिनकी विभूति है।

" ऐसे ऐसे ब्रह्मा और उनके ब्रह्माण्ड प्रकृतिमें कितने हैं? इस प्रश्नका उत्तर स्वयं ब्रह्मा भी नहीं दे सकते। फिर उनकी बनायी सृष्टिमें तो ऐसा कोई गणितज्ञ हो ही कैसे सकता है? सब ब्रह्माण्डोंके अधिपति हिरण्यगर्भ हैं। वे प्रकृतिके अधीश्वर हैं। जो उनके लोकमें पहुँच जाता है, वह पुनः लौटता नहीं। महाप्रलयके समय उनके साथ ही मुक्त हो जाता है। हिरण्यगर्भके अधीन, उनके समकक्ष अथवा उन्हींके रूपान्तर और बहुत-से लोक हैं। परन्तु वे भी परम मुक्त नहीं हैं। जहाँ तक तुम चलकर जाओगे, जिसे तुम करके पाओगे वह परम मुक्त नहीं है। अच्छा, तुम आँख बंद कर लो, देखो, सब लोकों लोकान्तरोंका चंक्रमण। "

'मैंने आँखें बन्द कर लीं। मेरा व्यक्तित्व लुप्त हो गया। अब मैं व्यष्टि नहीं, समष्टि था। मानो मैं एक महान् एवं अपार समुद्र होऊँ, मेरी एक लहर प्रकृति हो और उसके छोटे छोटे सीकर ही असंख्य ब्रह्माण्ड हों। सारे के सारे ब्रह्माण्डोंका सृजन और संहार होनेमें पलभर भी नहीं लगता था। प्रकृति-लहरोंके उठने और शान्त होनेका समय इतना कम था कि गणितके द्वारा उसका संकेत नहीं किया जा सकता। मैंने बड़े ध्यानसे देखनेकी चेष्टा की, परन्तु ब्रह्माण्डोंके अवान्तर भेदोंका पता न चला। सब छोटे छोटे बिंदुओंके रूपमें दीख रहे थे। मैंने सोचा—" मैं सब हूँ। मेरे सब हैं। सुख-दुःख मेरे स्वरूप हैं। मैं परम सुखी हूँ। " अब तक वे बिंदु भी अन्तर्धान हो चुके थे। केवल एक था, केवल मैं था।

उन्होंने मेरे सिरपर हाथ रखकर मेरा ध्यान भंग किया और कहा—" भैया, यही परमसुख नहीं है। अभी तो तुममें अहङ्कृति है।

तुम अपने अस्तित्वका अनुभव कर रहे थे। यह भले ही व्यष्टिकी अहंकृति न हो, समष्टिकी हो। यहाँ भी तुम एक प्रकारसे चलकर ही पहुँचे हो। गतिका कहीं अन्त नहीं है। यह गोलाकार चक्कर है। तुम्हें नयी-नयी बातें मालूम होंगी। परन्तु होंगी सब पुरानी ही। नीचेसे ऊपर, ऊपरसे नीचे। सुखसे दुःख, दुःखसे सुख। यह एक चक्र है—संसारचक्र। यह अनादिकालसे चल रहा है। प्रवाह रूपसे नित्य है।"

संस्कारसे सुन्दर-असुन्दरकी कल्पना। सुन्दरसे राग, असुन्दरसे द्वेष। सुन्दरको चाहना, असुन्दरसे परहेज। पानेकी चेष्टा। हटानेकी चेष्टा। उन-उन चेष्टाओंके संस्कार—और फिर सृष्टि। इस प्रकारका यह चक्र चल रहा है। इससे छूटनेकी चेष्टा भी इसीमें है। जैसे कुम्हारके घूमते हुए चाकपर चलती हुई चींटी चलकर भी उसी चक्करमें रहती है। वैसे ही अविद्यामें पड़े हुए जीवोंकी दशा है। परन्तु जैसे बादलोंके, वायुके और चाकके आवागमनमें आकाश एक-सा ही निर्लेप रहता है वैसे ही आत्मा है। वह एकरस है। वह चलकर नहीं प्राप्त की जाती। वह चलकर भी प्राप्त की जा सकती है। परन्तु तुम्हें चलनेके समय भी स्मरण रहना चाहिये कि जहाँसे तुम चले हो, जहाँ चल रहे हो, और जहाँ होकर चलोगे वहाँ भी वैसी ही आत्मा है जैसी कि तुम्हें गन्तव्य स्थानपर जानेके बाद मिलेगी। तुम केवल अविद्याका बन्धन काट डालो, उस बन्धनकी प्रतीति निकाल डालो। यही साधना है। तुम्हें परम सुख प्राप्त होगा।"

"मैंने जितनी बातें कही हैं, वे केवल साधनावस्थाकी हैं। इसको अपने गुरुके पास जाकर समझो। वे तुम्हें अविद्यासे पार पहुँचा देंगे।'

'उनकी बात समाप्त होते ही मैं पुनः अपने शरीरमें आ गया। आँखें खोलीं। गंगा हर-हर करती हुई बह रही थीं। हरिणियोंके नन्हें-नन्हें शिशु पास ही पानी पी रहे थे। रंग-बिरंगे पक्षी कलरव करते हुए किलोलें कर रहे थे। मैं आपके पास चला आया। गुरुदेव! यह सब मैंने क्या देखा है? इतना क्या रहस्य है? क्या सांसारिक दुःख सुखका मूल हमारी कामना और अविद्या है? आपकी अमृतमयी वाणी सुननेको उत्सुक हूँ, कृपा कीजिये।' इतना कहकर ज्ञानेन्द्र चुप रह गये।

महात्माजी बड़े जोरसे हँसने लगे। उन्होंने कहा—"आज बड़ा अच्छा संयोग है। सुरेन्द्र आदर्श कर्म चाहता है, नरेन्द्र भगवान्की लीलाओंकी अनुभूति और ज्ञानेन्द्र सुख-दुःखसे परे आत्माका बोध। साधारण लोग समझते हैं अलग-अलग। परन्तु वास्तवमें ये एक ही हैं। क्या इनके सम्बन्धमें मैं अपने अनुभव सुनाऊँ? अपना अनुभव तो गुप्त रखना चाहिये; परन्तु तुम लोग तो अपने ही हो। हाँ, तो इस विषयमें मैं अब अपना अनुभव सुनाऊँगा।"

सुरेन्द्र और नरेन्द्र तो ज्ञानेन्द्रकी बात सुनकर चकित थे ही। अब महात्माजीके अनुभव सुननेके लिये और उत्सुक हो गये। ज्ञानेन्द्र भी सावधान हो गया।

(६)

महात्माजीने कहा—'उन दिनों मैं बहुत विचार करता था। कोई भी वस्तु सामने आती, बस, मैं सोचने लगता—यह क्या है! मेरी मान्यता भी यही थी कि किसी वस्तुपर विचार किये बिना उसकी ओर झुक जाना भगवान्की कृपारूपी बुद्धिका तिरस्कार करना है। ऐसा तो पशु भी नहीं करते। हाँ, तो मैं बहुत विचार करता था।'

'माघका महीना था। आकाश बादलोंसे घिरा था। अँधेरी रात थी। मैं एक वृक्षके नीचे सोच रहा था। मेरी दृष्टि उस फैले हुए अन्धकारपर गयी। मेरे मनमें प्रश्न उठा–यह अन्धकार क्या वस्तु है? क्या प्रकाशका अभाव ही अन्धकार है? तब क्या इस समय प्रकाश सर्वथा है ही नहीं? बादलोंमेंसे दो-चार तारिकाएँ चमक गयीं। उनकी ज्योति मेरी आँखोंका स्पर्श कर गयी। मैंने अनुभव किया कि प्रकाश इस समय भी है। अच्छा, मान लो तारिकाएँ न चमकतीं, बड़ा घना बादल होता, तब क्या प्रकाश नहीं होता? अवश्य होता। हमारी आँखें देख नहीं पातीं। हमारी आँखोंमें भी तो प्रकाश है। हमारा मन भी तो प्रकाशसे शून्य नहीं है। तब यह प्रकाश है, रहता है–और यही अन्धकारका अनुभव करता है। दीपकका अभाव अन्धकार है। सौ दीपकोंकी उपस्थितिमें एक दीपक भी अन्धकार है। लाखोंमें सौ। और सब दीपकमय ही हो, तब लाखों दीपक भी अन्धकार हैं। महासूर्य या ज्योतिर्नीहारिकापिण्डके सामने यह सूर्य भी अन्धकार है। आत्मज्योतिके सन्मुख वे भी। अधिक प्रकाशमें कम प्रकाशकी वस्तुएँ दीखती हैं। सबमें कुछ-न-कुछ प्रकाश है। प्रकाश-शून्य कोई भी नहीं। तब क्या प्रकाश और अन्धकार दो वस्तुएँ हैं? एक दूसरेकी अपेक्षासे हैं? अर्थात् एकके साथ दूसरी वस्तु लगी हुई है? मैं विचारमग्न हो गया।'

'मैंने सोचा—नित्य कौन-सी है? अनित्य कौन-सी है? किसका बाध किया जा सकता है और कौन-सी अबाध है? कल्पना करें कि प्रकाश नहीं है। परन्तु इस प्रकाशके अभावको कौन प्रकाशित कर रहा है? वह भी तो एक प्रकाश है। अच्छा, प्रकाश है, अन्धकार नहीं है। तब प्रकाशको प्रकाश ही कैसे कहा जा सकता है? ठीक है, प्रकाशको प्रकाश नहीं कहा जा सकता। बिना अपेक्षाके शब्दकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। परन्तु केवल इसीसे प्रकाश वस्तुका अभाव तो

सिद्ध नहीं होता। 'है, या नहीं' इन शब्दोंमें अनिर्वचनीयता होनेपर भी वस्तुकी सत्ताका निषेध नहीं हुआ। निषेध करनेवालेका निषेध भला कौन करे?'

'प्रतीति अथवा भान प्रकाशको ही हो सकता है। अन्धकारको वह नहीं हो सकता। मैं हूँ अथवा नहीं, यह है अथवा नहीं अर्थात् 'अहम्' वृत्ति और 'इदम्' वृत्ति दोनों ही प्रकाशको होती हैं, प्रकाशमें होती हैं। वह अन्धकारको 'इदम्' समझता है और प्रकाशको 'अहम्'। 'अहम्' के बिना 'इदम्' वृत्ति नहीं रह सकती। वह 'अहम्'के आधारपर ही टिकी हुई है। परन्तु 'इदम्' वृत्तिके बिना भी 'अहम्'वृत्ति रह सकती है, रहती है। 'अहम्' अबाध है, और 'इदम्' बाधित। 'अहम्' नित्य है और 'इदम्' अनित्य। 'अहम्' सत्य है, और 'इदम्' असत्य। परन्तु 'अहम्' सत्य है यह बात कहे कौन? सोचे कौन? अपने आपका अपने आपपर विज्ञापन ही कौन करे?'

'बादल गरज उठे। बिजली चमक गई। मेरी आँखें भी उधर गयीं। कान कनमना उठे। परन्तु अब न बिजलीकी वह चमक थी और न बादलोंकी गरज। मैंने सोचा— उनका गरजना, उनका चमकना क्या हुआ? आँखोंने अभी देखा था, कानोंने अभी सुना था। अब न आँखें देख रही हैं, न कान सुन रहे हैं? उनका भाव और अभाव दोनों ही आँखोंके सामनेसे गुज़र गये। मेरी आँख जैसी-की-तैसी बनी हैं। रूप, शब्द आदिके भाव और अभावको प्रकाशित करनेवाले ये आँखें और कान हैं। सारी स्थूल सृष्टि इन इन्द्रियोंकी प्रामाणिकतापर निर्भर है। इनमें तारतम्य तो होता ही है। किसीकी तेज, किसीकी मन्दी। इस सृष्टिको सभी विभिन्न रूपमें ग्रहण करते हैं। तब क्या यह विभिन्न रूपमें है? परन्तु सबको किसने ग्रहण किया? यहाँ मेरी इन्द्रियोंने। विभिन्न व्यक्तियोंके अस्तित्व में मेरी इन्द्रियाँ ही प्रमाण हैं। उनके भावोंकी परीक्षा और निश्चय इन्होंने ही

किया है। तब इनकी बात माननेके पहले इन्हींकी परीक्षा और इन्हींके स्वरूपका निश्चय कर लेना चाहिये।'

'अभी थोड़े ही दिनोंकी बात है। मुझे सब पीला-पीला दीखता था। ऊँची आवाज भी कम सुनायी पड़ती थी। क्षितिज चक्कर काटता-सा मालूम पड़ता था। उन दिनों मैं रुग्ण था। अब तो स्वस्थ हूँ। क्या मन इतना स्थिर है कि इसकी कोई बात मान ली जाय? मन कहता है कि मैं स्वस्थ हूँ, परन्तु इसका क्या प्रमाण? सम्भव है—कुछ दिनों बाद यह कहे कि तुम उनदिनों अस्वस्थ थे। तब आजकी बात झूठी हो जायगी। फिर क्या किया जाय? बुद्धिकी बात मान ली जाय। परीक्षा करें कि मन स्वस्थ है या अस्वस्थ? यह चञ्चल है या स्थिर? काम-क्रोधादिसे प्रभावित होकर कुछ कर रहा है अथवा स्वतन्त्रतासे?'

'बहुरूपी ये मनकी बातपर तो विश्वास नहीं आता, परन्तु बुद्धिका निर्णय तो स्वीकार ही करना चाहिये? मनकी भाँति ही बुद्धि भी तो दूषित हो गयी है। यह मनकी चेरी हो गयी है। जब तक यह विषयाभिमुख है, तबतक इसका निर्णय पक्षपातपूर्ण होगा। अब बुद्धिका ही परीक्षण-निरीक्षण होना चाहिये। बुद्धिसे अहम्का, आत्माका, प्रकाशका विचार किया जाय। अहम्की दृष्टिसे, आत्माकी दृष्टिसे, बुद्धिको परखा जाय। बुद्धिको कभी कुछ सूझता है कभी कुछ नहीं सूझता। कभी यह जागती है, कभी सोती है। अह, आत्मा उसकी सभी अवस्थाओंको देखा करता है। वह कभी देखा नहीं जाता। वह प्रकाश्य नहीं प्रकाशक है। बुद्धि और उसके सृष्ट पदार्थ अहम्के द्वारा ही प्रकाशित हैं। और सब अन्धकार है। 'अहम्' प्रकाशक है। तब क्या ये 'अहम्'से भिन्न हैं? क्या बुद्धिसे मन, इन्द्रियों और विषयोंकी सत्ता पृथक् है अथवा सब बुद्धिके ही परिणाम हैं? रूप दीखता है, आँख देखती है। आँखें क्या हैं? रूपकी ही सूक्ष्म

तन्मात्रा है। रूपका सूक्ष्म अंश स्थूल रूपको देखता है। सूक्ष्म शब्द कर्णगोलकमें स्थित होकर स्थूल शब्दको सुनता है। मन इन इन्द्रियोंको देखता है। मन क्या है? उन्हीं विषयोंकी सात्त्विक तन्मात्रा। सब अपनेको ही देखते हैं। तब 'अहम्' भी अपनेको ही देखता है। सब 'अहम्'का ही विस्तार है। 'अहम्' वस्तु ही द्रष्टा, दर्शन और दृश्यके रूपमें फैली हुई है। तब क्या 'अहम्' परिणामी है?'

पहले यह देखना चाहिये कि 'अहम्'का स्वरूप क्या है? क्या वह एक देशी है? परन्तु यह कैसे हो सकता है? वह देश, उसके अवान्तर भेद और उसके अभावको देखता है। 'अहम्'ने ही बुद्धिवृत्तिके द्वारा देशकी सृष्टि की है। एक देश और सर्व देश उसीकी उद्भावना हैं। वृत्तियाके ही अन्तर्भूत हैं। तब भला देश 'अहम्'को सीमित कर सकता है; क्या विभिन्न वस्तुएँ 'अहम्'को सीमित कर सकती हैं? परन्तु यह तो कदापि सम्भव नहीं दीखता। सभी वस्तुएँ उसीमें हैं। वह सब वस्तुओंमें 'अहम् अहम्'के रूपमें स्फुरित हो रहा है। अणु-अणुमें, परमाणु-परमाणुमें, उनके भेदकोंमें, व्यष्टि-समष्टि प्रकृतिमें और उसके परे भी 'अह'का साम्राज्य है। सब एक घन 'अहम्' है, और उसमें 'अह' शब्द लक्षणाके द्वारा तभी तक प्रवृत्त होता है जबतक 'इद' की सत्ता दीखती रहती है। 'इद' शब्दकी प्रवृत्ति निवृत्त हो जानेपर 'अह' शब्दकी भी प्रवृत्ति नहीं होती और एकरस अनिर्वचनीय वस्तुतत्त्व ही रह जाता है। और वह है ही। कालके द्वारा भी उसके परिच्छेदकी सम्भावना नहीं है। स्वय काल भी बुद्धि की सृष्टि है। वह अनन्त चिन्में आरोपित है। जैसे अनन्तका एक अंश असम्भव है वैसे ही कालके और निर्वचन भी असम्भव हैं। काल, देश और वस्तु सब उसीमें हैं, वही है। 'अह' ही सब हैं। 'अह'की दृष्टिसे यह सब प्रपञ्च कुछ नहीं, 'अह'ही सब है। यदि सबकी भी कुछ सीमा हो तो उसके परे भी 'अह' है। उसमें परिणाम होनेके लिये न अवकाश है, न पोल है और न

उसम बाहर कोई स्थान ही है। उसका परिणाम कब, कहाँ, कैसे और किस रूपमें हो सकता है? सब उसीमें प्रतीत हो रहा है। मेरा व्यक्तित्व भी उसीमें प्रतीत हो रहा है। मेरा 'अहं' भी उसीका आभास है। मेरा वास्तव 'अहं' तो वही है। 'अहं ब्रह्मास्मि।' व्यष्टि और समष्टि दोनों कल्पित हैं, उपाधि हैं, दोनोंमें स्फुटित होनेवाला शुद्ध चैतन्य एक है।'

'महात्माजीने आगे कहा—इस प्रकार सोचते-सोचते मैं अन्धकार और प्रकाशकी तहमें पहुँच गया। मैंने देखा, अनुभव किया कि एक ही सत्य है। उसे प्रथम पुरुषके द्वारा कहा जाय या उत्तम पुरुषके द्वारा, बात एक ही है। मध्यम पुरुषके द्वारा भी उसका वर्णन कर सकते हैं। वास्तवमें वह अनिर्वचनीय है। उसमें सजातीय-विजातीय और स्वगत भेद नहीं है। और भेदका निषेध भी नहीं है। 'सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम्, सत्य-शिव-सुन्दरम्'। मैं मस्त हो गया। मस्ती-बेमस्तीसे परे हो गया। मैं वैसा था ही, जान गया। नहीं-नहीं कुछ नहीं जाना। जो जान लिया गया वह-नहीं—दूरमथो विदिताद-विदितादधि।'

'मैंने और भी कई दृष्टियोंसे विचार किया। तीनों शरीर, तीनों अवस्थाएँ और तीनों अभिमानियोंका विश्लेषण किया। पञ्चकोष और पञ्चभूतोंका अन्त कर डाला। सुख-दुःख, पाप-पुण्य, आकर्षण-विकर्षण, स्थिति-गति, जड़-चेतन, ये सब-के-सब दो भागोंसे ही कसौटीपर कसे जा सकते हैं। एक बाध्य और दूसरा अबाध्य। अबाध्यका निर्वचन तो बाध्यकी अपेक्षासे ही होता है। परन्तु निर्वचन न होनेपर भी अबाध्यकी वस्तुसत्ता अबाध ही रहती है। वही स्वरूप है। वही सर्वथा अबाध है।'

'स्वरूपका निश्चय हो जानेपर जगत् और जगत्के मिथ्यात्व दोनों ही बाधित हो जाते हैं। तब वस्तुतत्त्वको पुरुष-दृष्टिसे भगवान्,

ष्टिसे माता, नपुसक-दृष्टिसे ब्रह्म कहते हैं । जगत्‌के अतिरिक्त
त्वको जान लेनेपर जगत् उससे भिन्न नहीं रहता । जगत् उससे
रत हो जाता है । तब जहाँ कहीं जिस रूपमे उसीके—अपने ही
होते हैं। नहीं भी होते हैं। होना-न होना दोनों ही स्वरूप हैं।'

'सर्वं यस्यमात्मा'। 'अयमात्मा ब्रह्म'। 'सर्वं खल्विद ब्रह्म' 'यत्र
त्मैवाभूत् तत्र केन क पश्येत्'—। 'सद्धीद सर्वम्, चिद्धीद सर्वम्।'

महात्माजी कहते-कहते तन्मय हो गये। वे माना मस्त होकर
करने लगे। कुछ देरतक उनकी वाणी रुक जाती। कुछ समय
रहते। सुरेन्द्र, नरेन्द्र और ज्ञानेन्द्र तीनो ही उनकी बात
हे थे।

'आत्मा ही सब है। भगवान् ही सब हैं। माया क्या है?
क्या है। सब स्वरूप है। सब सत्य है। सत्यको पाना नहीं है,
प्त है। उसको धारण करना नहीं है, वह धृत है। पाना भी
ो है, धरना भी उसे ही है। क्या लीला है! क्या माधुरी है?
भगवान्! सब भगवान्, सब अपना आपा!'

'अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः। अहं श्
ऽहं श्लोककृदहं श्लोककृत्। अहमस्मि प्रथमजा ऋतास्य।'

'कितना रस है? कितनी मिठास है? आनन्द और शान्तिका
समुद्र उमड़ रहा है। उसमें सारा विश्व आत्मविस्मृत होकर
तरा रहा है। उसमे इतनी मादकता है कि अपने आपको
, उसको भूलकर सब उसीमे उसको ढूँढ रहे हैं। भगवान्‌को
ए हैं। आत्मा ही आत्माका अनुसन्धान कर रही है। ज्ञान ही
लिये आतुर हो रहा है। कैसी लीला है? कितना सुन्दर खेल
ा खिलाड़ी है, वही खिलौना है और वही खेल है। देख भी
हा है। अपने खेलमें स्वयं ही रीझ गया है। यही खेलकी
है। सम्पूर्ण रसमय, सम्पूर्ण मधुमय और सम्पूर्ण आनन्दमय।'

'पवित्रता, शान्ति और आनन्द। सम्पूर्ण साधनोंका सूक्ष्म रूप यही है। जहाँ 'पापोऽहं' की भावना है, वहाँ भी अन्तस्तलमें पवित्रता का स्रोत है। वह आज नहीं तो कल फूट निकलेगा और सारी प्रकृतिको एवं अणु परमाणुओंको पवित्रतामय कर देगा। केवल पवित्रताकी चेष्टा हो। आत्मामें, परमात्मामें, हृदयमें छिपी हुई मूर्च्छित, मुप्त पवित्रताको ढूँढ निकाला जाय, जगा लिया जाय। चाहे जैसे हो—जपसे, तपसे, प्रार्थना से, ध्यानसे, ज्ञानसे, कर्मसे, भक्तिसे, पापोऽहं से। राग और विराग दोनों ही पवित्रताके साधन हैं। पवित्रता ही शान्तिकी जननी है। शान्तिमें ही आनन्द है। अपवित्र शान्त नहीं हो सकता। अशान्त सुखी नहीं हो सकता। पवित्रता, शान्ति और आनन्द ये परमार्थके मूल स्वरूप हैं।'

'तब फिर कूद क्यों न पड़ें पवित्रताकी उस अनन्त धारामें? कब और कहाँ? अभी और यहीं। प्रतीक्षा दुर्बलताकी द्योतक है। एक पगली छलांगमें ही क्यों न कूद पड़ें? तब क्या हम कूदे हुए नहीं हैं? कूदे हुए हैं। परन्तु हम हैं कहाँ? हमारा मन, हमारा हृदय, हमारी आँखें हमसे दूर हैं। जहाँ हम हैं वहाँ वे नहीं। यही तो वैषम्य है। जहाँ हम हैं, वहीं सब रहें। हम हैं अमृतमें। वास्तवमें हम अमृत में हैं। परन्तु हमारा मन विषम है। हम वर्तमानमें हैं, वह भूत या भविष्यमें है। हमसे दो चार हाथ दूर रहना उसका स्वभाव है।'

'अपवित्रता, अशान्ति और दुःखका यही कारण है। इसे समेट लें, अपने पास बुला लें। जहाँ हम रहें, वहीं मन रहे। हमारा सेवक, हमारा यन्त्र हमारे अधीन, हमारे आस-पास हमारे वशमें रहे। बस, हमारी पवित्रता अक्षुण्ण बनी रहे। यही पवित्रताकी साधना है। इसे अभी पूर्ण कर लें। हाँ, अभी। शायद विलम्ब और विलम्बकी सृष्टि कर दे। शायद क्या निश्चय ही। तब फिर अभी।'

'मन दूर क्यों जाता है? किस वस्तुकी अपेक्षा है? उपेक्षा क्यों नहीं कर देता? अपेक्षा (अप+ईक्षा) अर्थात् अन्धता। उपेक्षा (उप+ईक्षा) अर्थात् तटस्थ दृष्टि। वह किसी वस्तुको तटस्थ रहकर नहीं देखता। उसके साथ घुलमिल जाता है, अभिनिविष्ट हो जाता है। यह अपेक्षा, अन्धता अर्थात् अज्ञान ही उसे अन्यत्र ले जाता है। अपेक्षा अन्धी है। उपेक्षा सद्दृष्टि है। यह दृष्टि ज्ञानका स्वरूप है। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनोंमें, दोनोंमें तटस्थता रहे तो अपेक्षा हो ही नहीं। फिर मन अपनेसे दूर ही न जाय, अपने पास रहे, अपने सामने रहे। अपना ही रस, अपना ही आनन्द लेने लगे।'

'संकल्प ही सारे प्रपञ्चका मूल है। संकल्प ही न किया जाय। संकल्प न करनेका भी संकल्प न किया जाय। तटस्थ दृष्टिकी भी अपेक्षा न रहे। जो हो रहा है–होने दो। जो कुछ किसीके सम्बन्धमें कहा सुना जा रहा है— कहा सुना जाने दो। तुम निःसंकल्प रहो। अपने आपमें रहो। भगवान्‌में रहो। संकल्पका त्याग होते ही निष्काम कर्म होने लगेंगे। संकल्पका त्याग होते ही भगवान् और उनकी लीलाके दर्शन होने लगेंगे। संकल्पका त्याग होते ही आत्मसाक्षात्कार हो जायगा। अपनेसे अतिरिक्तका संकल्प ही अपेक्षाका जनक है। अपनेसे अतिरिक्तका संकल्प ही अज्ञान है। अपना संकल्प तो करना ही क्या है? केवल आत्मा है, भगवान् है, ज्ञान है, आनन्द है। संकल्प-रहित अद्वैत है। बिना दोका एक है। शान्ति है, आनन्द है। सर्व-असर्व एक है।'

'सुरेन्द्र! तुम संकल्पहीनताका अभ्यास करो। भगवान्‌की इच्छासे सामने जो कर्तव्य आ पड़े, उसे बिना आसक्तिके कर डालो। पूर्व-संकल्प मत करो। भूलो मत। अपेक्षा मत करो। फल मत सोचो। भविष्यकी ओर दृष्टि मत करो। अपना काम करते चलो। कर्मकी पूर्णता फलमें नहीं है। उसकी पूर्णता उसकी ही पूर्णतामें है। प्रत्येक क्रिया पूर्ण है। केवल आँखें उसपर जमी रहें। दृष्टिकी चञ्चलता ही

चञ्चलताकी जननी है । स्थिर हो जाओ । अभी स्थिर हो जाओ । तुम स्थिर ही हो । तुममें गति है ही नहीं । अब यहाँसे जाकर अपने वर्णाश्रमधर्मका सेवन करो । आदर्शको ढूँढो मत । तुम स्वय आदर्श बनो । तुम स्वय आदर्श बनो ।'

'नरेन्द्र ! तुम भगवान्‌को देखो । भगवान्‌की लीलाको देखो । बाह्य वस्तुओंके सकल्प त्याग दो ! तुम्हारे सामने इसी क्षण भगवान् और उनकी लीला दोनों ही प्रकट हो जायँगे । उनके अतिरिक्त और है ही क्या ! केवल सकल्पने ही बाह्य वस्तुओंकी सृष्टि कर रखी है । इन्हें रोकते ही, इनका त्याग करते ही भगवान्‌की लीलाके दर्शन होते हैं । अभी छोड़ दो । अन्तर्लीलाकी अनुभूति हो जानेपर बाह्य जगत्‌भी भगवान्‌की लीला ही हो जाती है । वास्तवमें सब भगवान्‌की लीला ही है। अपने अपेक्षापूर्ण संकल्पोंका त्याग कर दो। वासनावासित मनोराज्यकी उपेक्षा कर दो। एक बार उपेक्षा कर देनेपर ही उपेक्षित वस्तु उस रूपमें न रहेगी । भगवान् तुम्हारा कल्याण कर रहे हैं । तुम अन्तर्जगत्‌में प्रवेश कर रहे हो। मैं तुम्हारी अन्तर्मुखता देख रहा हूँ। शान्ति, शान्ति, शान्ति । तुम्हें भगवान्‌की लीला दीख रही है।'

'ज्ञानेन्द्र ! तुम सकल्प और उनके अभावके साक्षी हो । नहीं, साक्षी और साक्ष्यका भेदभाव तुममें नहीं बनता । तुम हो, तुम्हीं हो, 'तत्त्वमसि', यह कहना भी नहीं बनता । न तुम्हें परम सुखकी अपेक्षा है और न तो ज्ञानकी । तुम्हीं सब हो । तुम स्वय पूर्ण हो । पूर्ण रहो । पूर्ण रहोगे । पूर्ण-ही-पूर्ण है । परमार्थ-ही-परमार्थ है । पथभी परमार्थ ही है । जहाँसे पथ प्रारम्भ होता है वहभी परमार्थ ही है।

'प्रज्ञानमानन्द ब्रह्म' । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' ।

सुरेन्द्र निष्काम भावसे शान्त बैठा था । नरेन्द्रको सर्वत्र भगवान्‌की लीलाके दर्शन हो रहे थे। ज्ञानेन्द्र स्वरूपसमाधिमें मग्न था। गंगाजी बह रही थीं । महात्माजी हँस रहे थे ।

अभक्त कोई नहीं

पहली बात—सभी जीव सहज स्वभावसे बिना किसी विकार संस्कारके सुख चाहते हैं—वह भी ऐसा, जो हमेशा रहे, हर जगह मिले और वही-वही हो। अर्थात् सुखमें देश, काल और वस्तुका परिच्छेद किसीको सहन नहीं होता है। उसकी उपलब्धि किसी दूसरे के अधीन न हो-न व्यक्तिके, न साधनके। उसका स्फुरण भी होता रहे; क्योंकि सुखकी अज्ञात सत्ता नहीं होती। यही सम्पूर्ण जीवोंका इष्ट है। चाहे कोई आस्तिक हो, नास्तिक हो, ज्ञानी हो, अज्ञानी हो, कीट पतग हो, देवता हो-उसकी इच्छाका विषय यही सुख है। इसी सुखको कोई सच्चिदानन्दघन ब्रह्म कहते हैं, कोई ईश्वर, राम, कृष्ण। नाम कोई भी क्यों न हो, उससे लक्ष्यमें भेद नहीं होता। इस दृष्टिसे देखें तो ससारके सभी प्राणी ईश्वरकी प्राप्तिके इच्छुक हैं, इसलिये किसीको नवीन रूपसे इसका निश्चय करनेकी आवश्यकता नहीं है। इष्ट तो स्वत.सिद्ध ही है। अतः सब भक्त-ही-भक्त हैं।

दूसरी बात—कोई भी परमाणु वह आज भले ही जड़रूपसे भास रहा हो, अपनी सूक्ष्मदशामें चिद्‌णु ही है और कभी-न-कभी उसको अपने चित्स्वरूपका अनुभव करना है। इसलिये यह सम्पूर्ण जगत् जीवमय ही है। क्या चर, क्या अचर, क्या ज्ञानी, क्या अज्ञानी, सब अपने 'प्रतीयमान परिच्छिन्नरूपमें जीव ही हैं। बिना उपाधिके व्यवहार सम्भव नहीं है। उपाधियाँ सब-की-सब व्यक्त हैं। और वे एक अव्यक्त सत्तामें अव्यक्त ज्ञानके द्वारा प्रकाशित और सचालित हो रही हैं। कहनेका अभिप्राय यह है कि सब के सब उपाधिमे

तादात्म्यापन्न जीव एक ही ईश्वरकी गोदमें स्थित हैं। उसीके ज्ञानसे आभासित हैं और उसीसे नियन्त्रित भी। उसीमें सबका सोना और जागना होता है। चलना एवं बैठना भी। उसीकी आँखसे सब देखते हैं। उसीके कानसे सुनते हैं और उसीकी बुद्धिसे विचार करते हैं। उसके बिना जान नहीं सकते। उस परम प्रेमास्पद रसके बिना रह नहीं सकते। इसमें भी आस्तिक-नास्तिक, ज्ञानी-अज्ञानीका कोई भेद नहीं है। स्थितिकी दृष्टिसे सब ईश्वरमें, ईश्वरके लिये और ईश्वररूप ही हैं। जिसके द्वारा भक्त प्रेरित, पालित, चालित एवं निरुद्ध होते हैं, उसीके द्वारा अभक्त भी। जो स्मृति देता है, वही विस्मृति भी। जो सुख देता है, वह दुःख भी। क्या किसी व्यक्तिकी स्थिति-गति इस वस्तुस्थितिका अतिक्रमण कर सकती है?

पचीस वर्ष पूर्वकी बात है—मैं गङ्गातटवर्ती एक प्रसिद्ध सिद्ध महापुरुषके पास गया। उनसे प्रार्थना की—'गुरुदेव, आप मुझे भगवान्का शरणागत बना दीजिये।' महात्माजीने कहा—'शान्तनु, तुम कल आना और पूर्णरूपसे विचार कर आना। ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो भगवान्की शरणमें नहीं है? पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश और सूर्य-चन्द्रमा क्या भगवान्की शरणमें नहीं हैं? ब्रह्मा, विष्णु, महेश क्या उसीके जिलाये नहीं जी रहे हैं? क्या ऐसी कोई कणिका है, जो उससे सत्ता स्फूर्ति नहीं प्राप्त कर रही है, जो भगवान्की शरणमें नहीं है, मैं उसीको शरणागत कर दूँगा। ईश्वर और जीवकी चाल अलग-अलग नहीं हो सकती। ईश्वरका स्वरूप, उसकी शक्ति और प्रकृति, महत्तत्त्व और बुद्धि-यह क्या भिन्न भिन्न होने सम्भव हैं? जिसके पञ्चभूत हैं, उसीके शरीर हैं। यह शरीर, प्राण, मन, बुद्धि, अहंकार—हम जो कुछ अपनेको मानते-जानते हैं वह सब, तथा जीव जो कुछ पहले था, अब है, और आगे होगा, ईश्वरका है और उसीकी शरणमें है। क्या कोई भी अनन्त सत्ता, ज्ञान और

आनन्दसे पृथक् अपनेको स्थापित कर सकता है ? अशरणपना एक भ्रमजन्य भाव है । स्थितिकी दृष्टिसे भी समाधि और व्यवहार, सुषुप्ति और जाग्रत, ज्ञान और अज्ञान सब-के-सब एक ही कक्षामें निक्षिप्त हैं । इस दृष्टिसे विचार करनेपर भी कोई अभक्त नहीं है ।

तीसरी बात—वर्तमानमें ही हमारा इष्ट उपस्थित है और उसीमें हमारी स्थिति है । गम्भीरतासे विचार करके देखें तो हम जिस इष्टको चाहते हैं और जिस स्थितिमें पहुँचना चाहते हैं, उस इष्ट और स्थिति दोनोंको ही हम अप्राप्त मानकर चाहते हैं, परन्तु अनजानमें ही अपनी गहरी अन्तश्चेतनामें उन्हें अविनाशी, पूर्ण और सर्वात्मक भी मानते हैं । यह एक विचित्र बात है । किसी भी वस्तुको सदाके लिये चाहना और उसे वर्तमान कालमें न मानना, सर्वत्र मिले यह चाहना और विद्यमान देशमें न मानना, सर्वरूपमें पानेकी इच्छा करना और प्रतीयमान विषयमें न मानना एक बौद्धिक असङ्गति है । वर्तमानसे पृथक् कर देनेपर तो हमारा इष्ट ही देश काल, वस्तुसे अपरिछिन्न न रहेगा । न वह पूर्ण होगा और न तो सम्पूर्ण जगत्‌का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण ही । फिर तो उसे एक अतीतकी वस्तु समझकर रोयें या भविष्यकी कोई मन कल्पित वस्तु मानकर बार बार उसके बारेमें मानसिक कल्पना करते रहें । केवल अतीतकी स्मृति और भविष्यकी कल्पना करना वस्तुस्थितिसे आँख मूँदना है । हमारा प्यारा-प्यारा इष्ट अभी है, यहीं है और यही है । पहले भी यही और भविष्यमें भी यही । जन्म और मृत्युकी परम्पराने जाति और भावके परिवर्तनोंने उसमें कोई अन्तर नहीं डाला है । वह अविनाशी है और ज्यों-का-त्यों है । साथ ही हम अभी, यहीं और उसीमें स्थित हैं । देवर्षि नारदने भक्तिका लक्षण कहते हुए 'सा त्वस्मिन् परम प्रेमरूपा' इस सूत्रमें 'अस्मिन्' शब्दका प्रयोग करके यही अभिप्राय व्यक्त किया है । इस शब्दके द्वारा सामने विद्यमान वर्तमान

भगवान्की ओर ही संकेत है । अन्यथा बादके सूत्रमें—'यज्ज्ञात्वा स्तब्धो भवति मत्तो भवति आत्मारामो भवति' जिसके ज्ञानसे ही जीव स्तब्ध, मत्त और आत्माराम हो जाता है—यह न कहते ।

अब तककी बातोंका निष्कर्ष यह निकला कि इष्ट दूर नहीं है। और उसमें स्थिति भी अप्राप्त नहीं है। भक्तिके आचार्योंने यह नहीं माना है कि भक्ति किसी नवीन भावका उन्मेष है और इष्ट कोई सर्वथा अप्राप्त वस्तु। वे अपने इष्टको 'जन्माद्यस्य यतः' आदिके द्वारा जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण ही मानते हैं और भक्तिको भी स्वतःसिद्ध भावका प्रादुर्भावमात्र। जीवमात्रको भगवान् का नित्य दास अथवा नित्य कान्ता ही वे स्वीकार करते हैं। ऐसी स्थितिमें वह कौन-सी वस्तु है, जिससे रहित मानकर हम जीवको अभक्त मानें? भक्ति-सिद्धान्तमें भी नित्य प्राप्तकी प्राप्ति और वस्तुसे परिच्छिन्न प्राकृत पदार्थ अप्राप्त होते हैं। भगवान् और भक्ति वैसे अप्राप्त नहीं हैं। क्या भगवान् और भक्तिकी प्रतीयमान अप्राप्ति भगवान् उनकी कृपा और भक्तिका ही कोई विशेष भाव और आकार नहीं है? अवश्य है, क्योंकि वही तो भगवत्प्राप्ति, प्रेम और कृपाकी प्यास अथवा लालसाकी जननी है ॥

चौथी बात—यह प्रत्यक्ष है कि मृत्तिका, स्वर्ण, लोह आदि धातुएँ एक होनेपर भी अनेक नाम-रूपोंसे व्यवहारका विषय बनती हैं; भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंकी उन नाम-रूपोंमें अपनी प्रियता और रुचिकी पृथक्ता भी देखनेमें आती है, परन्तु केवल इसी कारणसे धातुभेद कोई स्वीकार नहीं करता। यदि रुचि और प्रियताके भेदसे अपने ही अन्तःकरणमें सर्पाकी सृष्टि कर ली जाय तो वही धातु दुःखका कारण बन जाती है। एक ही भगवान् मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह आदि आकारोंमें प्रकट होते हैं। ऐसी स्थितिमें एक आकारसे प्रेम करके क्या उनके दूसरे आकारोंसे द्वेष किया जाय? नहीं-नहीं, वे सभी परस्पर

विलक्षण होनेपर भी अपने इष्टके ही आकार हैं। इसी प्रकार हमारे हृदयमें स्थित प्रीति भी समय-समय पर परस्पर विलक्षण आकाराम प्रकट होती है। बच्चेको दुलारना चूमना और चपत लगाना क्या दोनों ही माँक वात्सल्यकी अभिव्यक्ति नहीं हैं? पति-पत्नीका परस्पर मान करना भी तो प्रेम ही है। इसी प्रकार भक्ति क भी अनन्त रूप और अनन्त नाम हैं। हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपुसे अधिक भगवान्का विरोधी और कौन होगा? परन्तु वे दोनों भी जय-विजयके ही जो कि भगवान्के नित्य पार्षद हैं, मूर्तरूप थे। कथा है कि एक बार भगवान्के मनम किसीसे द्वन्द्व युद्ध करनेकी इच्छा हुई, परन्तु उनसे युद्ध कर सके ऐसा ससारम कोइ नहीं था। जय विजयने अपने स्वामीका सकल्प देखा और अनुभव किया कि हमारे सर्वशक्तिमान् प्रभुमें अपनी इस इच्छाको पूर्ण करनेका सामर्थ्य नहीं है। अपने प्रभुकी शक्ति न्यूनतासे उन्हे दु:ख हुआ। इसीलिये व भगवान्का सकल्प पूर्ण करनेक लिये और उनकी प्रतीयमान अपूर्णताका कलङ्क-मार्जन करनेके लिय तथा इस रूपमें एक विशेष प्रकारकी सेवा करनेक लिये प्रेमसे ही असुरके रूपमें प्रकट हुए। भक्तिका यह उत्कृष्ट रूप अपनी प्रियता और रुचिका त्याग करके प्रभुका प्रियता और रुचिक प्रति आत्मसमर्पण किये बिना किसीको प्राप्त नहीं हो सकता। यह बात भी तो प्रसिद्ध है कि कैकयीने रामकी प्रसन्नता और सुखके लिये ही दशरथसे उनके वनवासका वरदान मागा था। श्रीमद्भागवतमें ही भगवद्विषयक काम, क्रोध, भय आदिको भी तन्मयता और कल्याणका हेतु बताया गया है। किसी जीवके हृदयमें भगवान्ने अपना कौन सा आकार प्रकट कर रक्खा है और स्वयप्रकाश, स्वच्छन्द प्रकृति भक्ति-महारानी कौन-सी वेष-भूषा धारण करके किस भाव, आकार और क्रियाके रूपमें अपनी उच्छृङ्खल लीला कर रही हैं, इसका पहचाननेका कौन दावा कर सकता है?

भोजनकी सेवा अलग और चरणकी सेवा अलग। यदि सभी सेवक यह आग्रह करने लग जायँ कि जिस भावकी जैसी सेवा मैं करता हूँ, वैसी ही सेवा सब करें तो केवल सेवकोंको ही नहीं, सेव्यको भी उद्वेग होगा। कर्त्ता, करण, उपकरण, सम्बन्ध, भावना बुद्धि और स्थिति यह सब के सब एक-से हों, सब प्रभु प्रभु या प्यारे-प्यारे ही पुकारते रहें, सब राम-राम या श्याम-श्याम, अथवा शिवोऽहम्-शिवोऽहम् रटा करें—इन सब छोटे-मोटे आग्रहोंसे भक्ति भाव बद्ध नहीं है। यह तो विदूषक या उद्धत वेशकी, जटी या मुण्डीकी स्तुति, जनकपुर-बरसाने वालोंकी अटपटी गालीकी, चरणोंमें पड़ने या श्रीरामाजीकी भाँति अपना वाहन बनानेकी विलक्षण क्रियाओंकी परवाह किये बिना सर्वत्र अपने अखण्ड साम्राज्य पदपरही आरूढ रहता है। हम किसीको अभक्त तो तब मान बैठते हैं जब हमारा चित्त पूर्वाग्रहके भारसे जर्जर, कुछ सीमित संस्कारोंसे आक्रान्त अथवा सूक्ष्मग्राहिणी बुद्धिसे परित्यक्त होता है, परन्तु इस दशामें भी अपनी निष्ठामें अनन्यताका रूप ग्रहण करके भक्ति विद्यमान रहती है। यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि सिद्धान्त रूपसे भगवान्‌को सर्वात्मा स्वीकार करनेके बाद भी कोई भगवान्‌का विरोधी या अभक्त कैसे मालूम पड़ता है।

आठवीं बात—मूर्च्छा-सुषुप्ति, मृत्यु-प्रलय, निःसंकोचता, समाधि—इनमेंसे कोई भी अवस्था भक्तिरहित नहीं होगी। एक तो इनमें जाग्रत् और स्वप्नके प्रपंचका भान न होनेपर भी अनन्यभावसे ही चित्तवृत्ति अपने आश्रयभूत स्वस्वरूप परमात्माका आलिङ्गन करके उसीमें स्थित रहती है, दूसरे इन स्थितियोंसे किसी भी चीजका आत्यन्तिक नाश नहीं होता। जैसे बड़के नन्हें-से बीजमें विशाल वृक्षकी छोटी-मोटी शाखाएँ, पल्लव, पुष्प, फल आदि सभी विशेषताएँ समायी रहती हैं, इसी प्रकार इन अवस्थाओंमें भी सभी पदार्थ बीजके रूपमें विद्यमान रहते हैं। न केवल इसी जन्ममें संस्कार प्रत्युत् अनादि

कालसे अब तक सभी अतीत जन्मोंके संस्कार और आगामी असंख्य जन्मोंके बीज संस्कार भी उनमें ही सिमटे रहते हैं; क्योंकि वे सभी अवस्थाएँ कारणरूप ही हैं। न ऐसा कह सकते हैं कि किसी जीवके अन्तःकरणमें अनादि कालसे अनुवृत्त जन्म-मृत्यु परम्परामें कभी भक्तिभावका आविर्भाव नहीं हुआ और न तो ऐसा ही कह सकते हैं कि आगे भी नहीं होगा। इसलिये वर्तमानमें किसीको भी भक्ति संस्कारसे शून्य कहना या समझना कैसे उचित हो सकता है यह बात दूसरी है कि किसी व्यक्तिके वर्तमान जीवनमें अपनी निष्ठा, मान्यता, रुचि एवं ग्रन्थ विशेषके अनुसार भक्तिकी वेष-भूषा और रंग-रूप प्रकट करनेके लिये वैसा कह रहे हों। अपनेमें भक्तिके अभावका अनुभव करना उन्हें अपनी इच्छाके अनुसार भक्तिसे युक्त देखनेका संकल्प है। इस दृष्टिसे भी संसारका कोई भी जीव वस्तुतः अभक्त नहीं है।

नवीं बात—ब्रह्म और आत्माकी एकताके ज्ञानसे भी भक्तिकी कोई हानि नहीं है; क्योंकि ज्ञानसे केवल अविद्याकी ही निवृत्ति होती है, भान अथवा व्यवहारकी नहीं। जिस उपाधिके कारण भेदकी प्रतीति अथवा व्यवहार हो रहे हैं वह उपाधि जब तक प्रतीत होती रहेगी तब तक उसके गुणधर्म भी रहेंगे ही। उपाधि जब निःसंकल्प होकर अपने आश्रयमें स्थित रहती है, तब शान्त रस है। जब यह कर्म-परायण है तब दास्यरस है। जब वह सम्पूर्ण जीवों के प्रति सद्भावसे युक्त है, तब सख्यरस है। जब वह ध्येयरूपसे अपने उत्सङ्गमें ही केवल चेतनको विषय करती है, तब वत्सल रस होता है। और जब वह आश्रय और विषयके रूपमें स्थित अद्वितीय चेतनका आलिङ्गन करती और उससे आलिङ्गित होती है, तब मधुर रस होता है। उपाधि चाहे ज्ञानीकी हो या अज्ञानीकी, उसके सारे खेल ही परब्रह्म परमात्मामें हो रहे हैं। यह

जिस अधिष्ठानम अध्यस्त है और जिस स्वयप्रकाश सर्वावभासक चेतनके द्वारा प्रकाशित हो रही है, वे दोनों अधिष्ठान और प्रकाशक वस्तुत दो नहीं है। अद्वितीयता भी विलक्षण है। एक एक का योग दो हो जाता है, परन्तु अद्वितीय-अद्वितीय मिल कर दो नहीं होते। भाव अभाव आदिके द्वन्द्वमें प्रतियोगी रहता है, परन्तु ब्रह्मका कोई प्रतियोगी नहीं है। ऐसी वस्तुस्थितिमें द्रष्टा और अधिष्ठानम भेदबुद्धिक रहने तक ही उपाधि सत्य जान पड़ती है। भेदबुद्धिके निवृत्त होते ही उपाधि भी ब्रह्मरूप ही है, क्योंकि अधिष्ठानसे अध्यस्त और प्रकाशकसे प्रकाश्य भिन्न नहीं होता। फिर तो यही कहना पड़गा कि भक्ति ब्रह्मरूप ही है।

अद्वैत-वेदान्तमें साधनका विचार करते समय यह स्पष्ट रूपस स्वीकार किया गया है कि ईश्वरकृपासे ही अद्वैतमें रुचि होती है। ईश्वरमें रागात्मिका भक्तिका उदय होनेसे संसारके राग द्वेष निवृत्त हो जाते हैं। राग होनेसे वस्तुके दोषका पता नहीं चलता, द्वेष होनेसे गुणका ज्ञान नहीं होता। इसलिये अन्त करणको राग-द्वेष शून्य करनेक लिये भगवद्भक्तिकी आवश्यकता सर्वमान्य है। अन्त करण शुद्ध होनेपर जब पदार्थका तात्त्विक अनुसन्धान प्रारम्भ होता है, तब 'तत्पदार्थ'के शोधनमें जो विशेष रुचि है, उसे आत्मरति कहते हैं। प्रधानतया उपाधिके विवेकमें न्यायमीमांसा 'तत्पदार्थ' क विवेकमें भक्तिशास्त्र और 'त्वपदार्थ' के विवकमें साख्य योग अत्यन्त उपयोगी हैं। किसी-न किसी कक्षामें सभी सम्प्रदाय और शास्त्रोंका उपयोग है। जिनके विचारसे 'तत् पदार्थ' और 'त्व पदार्थ' अलग-अलग रहते हैं, उनके लिये भगवद्भक्ति और आत्मरतिमें भेद रहता है। जब दोनों पदार्थोंके ऐक्यका बोध होता है, तब आत्मा और परमात्माके एक होनेक कारण आत्मरति और भगवद्भक्ति भी एक ही स्थितिकी वाचक हो जाती हैं। उसे ही ब्राह्मी स्थिति

कहते हैं। इस प्रकार बहिरङ्ग साधनसे लेकर ब्राह्मी स्थि
पर्यन्त एक ही भक्ति देवी अपनी साज-सज्जा, आकार-प्रकार बदल
बदलकर अनेक नाम रूपोंमें प्रकट होती रहती है और भिन्न भिन्न स्थिति
के रूपमें विवर्तमान होती रहती है। चित्तवृत्तिका सत्य, ज्ञानघन सुख
तत्त्वमें जो सहज पक्षपात है, उसीका नाम भक्ति है और वह कि
भी जीवको किसी भी अवस्थामें कभी प्रकट और कभी गुप्त रू
अपनी उपस्थितिसे वञ्चित नहीं करती। और तत्त्व-दृष्टिसे तो
ब्रह्म ही है। इसलिये भक्ति भी असन्दिग्ध और अविपर्यस्तरू
ब्रह्म ही है।